[illegible]

निम्नलिखित नई पुस्तकें छपकर प्रकाशित हो गईं—

१—[illegible]

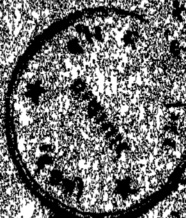
२—[illegible] (दूसरा भाग) [illegible]

३—[illegible]

४—[illegible]

५—[illegible]

६—[illegible]



छप रही हैं

१—[illegible] (दूसरा भाग)।

२—[illegible] (दूसरा भाग)।

३—[illegible]।

प्रकाशन-मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी

"अब फिर उसी प्रश्न की परीक्षा कीजिए देखिए उसमें एक और कितनी बड़ी भारी भूल है। प्रश्न यह है कि "दूसरे के पूजन से दूसरे का संतोष कैसे" प्रश्नकर्त्ता का तात्पर्य ऐसा जान पड़ता है कि तुम पत्थर मिट्टी की पूजा करते हो इससे वह क्योंकर प्रश्न हो सकता है ? पर यह कैसी भूल है !! हम कभी पत्थर मिट्टी की पूजा नहीं करते किंतु पत्थर मिट्टी के आश्रय से उसी सच्चिदानंद परम पुरुषोत्तम की पूजा करते हैं। जिस प्राणप्यारे से मिलने की हमें जन्मजन्मांतर से प्यास चली आती है और जिसके बिना हमें जगत् कट्टर सा जान पड़ता है उसे हम सर्वव्यापक सुनते हैं। हम हाथ जोड़ सिर झुका प्रणाम करना चाहते हैं पर उस सर्वव्यापक को प्रणाम करने के लिये हमारे सिर और हाथ सर्वव्यापक हो नहीं सकते। हम जब सिर झुकावेंगे तो किसी एक ही दिशा की ओर झुकेगा और हाथ भी एक ही ओर जुड़ेगा तो क्या हम हकपकाकर चुप रह जायँ अथवा प्रणाम करें ? चुप रहने से तो भया बस नास्तिक के भी परदादा भए ईश्वर को माना जैसे न माना और सिर झुकाया तो आप ऐसे बुद्धि के अजीर्णवाले पुरुष कह उठेंगे कि आप तो दिक्पूजक हैं यदि हम ईश्वराय नमः कहेंगे तो आप कहेंगे कि आप तो ई—श्व—र इन अक्षरों के पूजक हैं। पर क्या सचमुच आप ऐसी टोंकटाँक कर सकते हैं ! कभी नहीं; क्योंकि संसार में कोई ऐसा है ही नहीं जो ईश्वर के प्रतिनिधि शब्दों के झमेले में न पड़ा हो। मूर्तिपूजा से हमारा तात्पर्य है कि किसी प्रतिनिधि के द्वारा ईश्वर का पूजन। हमारे आप के इतना ही भेद रहा कि—नाम रूप दो प्रतिनिधि होते हैं सो आप नाम प्रतिनिधि तक ही पहुँचे हम रूप प्रतिनिधि तक मानते हैं। और किसी मूर्ति को उसी का प्रतिनिधि मान मूर्ति के द्वारा उसी का पूजन करते हैं न कि दूसरे के पूजन से दूसरे को संतोष पहुँचाते हैं।"

इस अवतरण के पढ़ते ही यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि कोई तार्किक किसी विषय पर वाद-विवाद कर रहा है। तर्क और वाद-विवाद का यह रूप आर्य समाज के प्रचार से प्राप्त हुआ था। इस रूप का रंग हमें उस समय के उन सभी लेखकों में मिलता है जो विषय के खंडन-मंडन की ओर झुके थे। व्यासजी की सरल भाषा इस विषय में बड़ी बलिष्ठ थी। उनकी तर्कना शक्ति का प्रभाव उनकी भाषा में भी स्पष्ट रूप से झलक रहा है। यह सब होते हुए भी उनमें पंडिताऊपन इतना प्रचंड दिखाई पड़ता है कि कहीं कहीं बुरा ज्ञात होने लगता है। "ऐसा जान पड़ता है," "इससे वह क्योंकर प्रश्न हो सकता है", "तो भया नास्तिक के भी परदादा भए", "कहैंगे," "उठैंगे," "हमारे आपके इतना ही भेद रहा", "सो" इत्यादि पद अथवा शब्द केवल व्यासों की कथा-वार्ता में ही प्रयुक्त होने योग्य हैं, न कि गंभीर विषय के विवेचन में। वस्तुतः इस पंडिताऊपन के कारण व्यासजी की भाषा अपने समय से बहुत पूर्व की ज्ञात होती है। इतना ही नहीं वरन् उसमें एक प्रकार की शिथिलता पाई जाती है, जो उस समय की गद्योन्नति के प्रतिकूल थी। इस प्रकार की भाषा उस काल विशेष की प्रतिनिधि नहीं मानी जा सकती।

हिंदी गद्य की आलोचना करते हुए कोई भी लेखक बाबू देवकीनंदन खत्री को नहीं छोड़ सकता। इसलिये नहीं कि उन्होंने कोड़ी दो कोड़ी पुस्तकें हिंदी-साहित्य में उपस्थित की हैं; अथवा किसी ऐसी नवीन अनुभूति की आकर्षक व्यंजना की है कि हम वास्तव में नवीन कल्पना की अनुभूति में

व्यस्त हो जाते हैं अथवा इसलिये नहीं कि उन्होंने अपना पाठक-जगत् निर्माण किया अथवा साहित्य के एक अंग की पुष्टि की,

देवकीनंदन खत्री

वरन् इसलिये कि उन्होंने एक ऐसी चलती एवं व्यावहारिक भाषा का उद्घाटन किया कि साधारण से साधारण जनता भी उनकी रचनाओं के पढ़ने में आकृष्ट हो गई। यह उनकी भाषा की बोध-गम्यता थी जिसने अपढ़ लोगों में भी यह विचार उत्पन्न कर दिया कि यदि वे हिंदी की वर्णमाला सीख लें तो उन्हें मनोरंजन का बहुत सा मसाला मिल सकता है। भाषा का ऐसा चलता और सुबोध रूप वास्तव में इनके पूर्व नहीं उपस्थित हुआ था। इनकी भाषा शैली में हिंदी उर्दू का अपूर्व सम्मेलन हुआ है। यह लेखक की सफल कुशलता है। इनकी भाषा उपन्यास-लेखन की परंपरा में रामचरितमानस का कार्य करती है। हिंदी उर्दू का इतना मिला जुला रूप उपस्थित करने में खत्रीजी ने उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। इन्होंने हिंदी और उर्दू के शब्दों को ठीक उसी रूप में प्रयुक्त किया है जिसमें कि वे साधारण बोलचाल में आते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि इनकी रचनाओं की भाषा हम लोगों के नित्य व्यवहार की भाषा जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त इन्होंने, आवश्यकता पड़ने पर, स्वाभाविकता के विचार से, अँगरेजी के शब्दों का भी यथास्थान व्यवहार किया है; जैसे—'फ़िलासफ़र', 'कमीशन', 'हिस्ट्री', 'मिस्टरी', 'लाफ़िंग ग्यास' इत्यादि। यह सब कुछ इन्होंने भाषा को चलतापन देने के लिये ही किया है। इस विषय में प्रमाण स्वरूप इन्हीं का कथन हम उपस्थित करते हैं—"जो हो भाषा के

विषय में हमारा वक्तव्य यही है कि वह सरल हो और नागरी वर्णों में हो। क्योंकि जिस भाषा के अक्षर होते हैं, उनका खिंचाव उन्हीं मूल भाषाओं की ओर होता है जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई है।" "किसी दार्शनिक ग्रंथ वा पात्र की भाषा के लिये यदि किसी को कोष टटोलना पड़े तो कुछ परवाह नहीं; परंतु साधारण विषयों की भाषा के लिये भी कोष की खोज करनी पड़े तो निःसंदेह दोष की बात है।"

भाषा को सरल बनाते बनाते इन्होंने भी स्थान स्थान पर व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ की हैं। ये भूलें केवल प्रमाद वश हुई हों ऐसी बात नहीं है। वास्तव में वे भाषा व्याकरण की अज्ञानता के कारण हुई हैं। जैसे—"बड़े खुशी की बात है", "गुरुजी ने मुझे जो कुछ ऐयारी सिखाना था सिखा चुके", "अपने भाषा को", "कवियों के दृष्टि में" इत्यादि। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में अधिकतर "हों" (हो), "के" (कर), "होवेगे" (होगे), "सो" (यह), "को" (से), "करके" मिलता है। "अस्तु" का प्रयोग बिना किसी प्रयोजन के ही हुआ है। इस प्रकार की त्रुटियाँ या तो इसलिये हुई हैं कि ये बोलचाल की प्रगति को अधिक स्थान देना चाहते हैं अथवा उस समय तक गद्य-साहित्य का जो विकास हुआ था उससे ये कुछ दूर थे।

यह सब होते हुए भी इनकी भाषा में न तो किसी प्रकार की जटिलता है और न भाव-प्रकाशन-प्रणाली में कोई क्लिष्टता ही। किसी भी बात को ये सीधे-साधे रूप में ही लिखने में निपुण थे। उनके वाक्य भी सरल और छोटे-छोटे होते थे।

किसी भाव को घुमा-फिराकर कहना अथवा रचना-चमत्कार दिखाना इनके विचार के विरुद्ध था। इनकी लेखनी का सीधापन देखिए—

"कुछ दिन की बात है कि मेरे कई मित्रों ने संवादपत्रों में इस विषय का आंदोलन उठाया था कि 'इसका (संतति) कथानक संभव है कि असंभव'। मैं नहीं समझता कि यह बात क्यों उठाई और बढ़ाई गई। जिस प्रकार पंचतंत्र और हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिये लिखे गए उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिये, पर यह संभव है कि असंभव इस पर कोई यह समझे कि चंद्रकांता और वीरेंद्रसिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं तो बड़ी भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और यह उसका एक छोटा सा नमूना है। अब रही संभव और असंभव की बात अर्थात् कौन सी बात हो सकती है और कौन सी नहीं हो सकती? इसका विचार प्रत्येक पुरुष की योग्यता और देश-काल-पात्र से संबंध रखता है। कभी ऐसा समय था कि यहाँ के आकाश में विमान उड़ते थे, एक एक वीर पुरुषों के तीरों में यह सामर्थ्य थी कि क्षण मात्र में सहस्रों पुरुषों का संहार हो जाता, पर अब वह बातें खाली पौराणिक कथा समझी जाती हैं। पर दो सौ वर्ष पहले जो बातें असंभव थीं आजकल विज्ञान के सहारे वे सब संभव हो रही हैं। रेल, तार, बिजली आदि के कार्यों को पहले कौन मान सकता था? और फिर यह भी है कि साधारण लोगों की दृष्टि में जो असंभव है कवियों के दृष्टि में भी वह असंभव ही रहे, यह कोई नियम की बात नहीं है। संस्कृत साहित्य के सर्वोत्तम उपन्यास कादंबरी की नायिका युवती की युवती ही रही पर उसके तीन जन्म हो गए। तथापि कोई बुद्धिमान् पुरुष इसको

दोषावह न समझकर गुणाधायक ही समझेगा। चंद्रकांता में जो बातें लिखी गई हैं वे इसलिये नहीं कि लोग उसकी सचाई झुठाई की परीक्षा करें प्रत्युत इसलिये कि उसका पाठ कौतूहल-वर्धक हो।"

इस अवतरण में तो कुछ संस्कृत की तत्समता का प्राबल्य आ गया है। यह स्वाभाविक है; क्योंकि यहाँ खत्रीजी अपने विराट् उपन्यास के घेरे से बाहर आकर अपने सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहे हैं। उनके उपन्यासों की साधारण भाषा इससे भी सरल है। वस्तुतः उनकी वह भाषा इस योग्य नहीं होती थी कि उसमें तथ्यातथ्य का गवेषणात्मक विवेचन हो सके। यों तो इस अवतरण की भाषा विशेष का विचार कर आशा की जा सकती है कि यदि अन्य विषयों पर भी वे कुछ लिखते तो संभव है अच्छा लिखते; परंतु यदि हम केवल उनके उपन्यासों की भाषा पर ही ध्यान दें तो यह निर्विवाद मान लेना पड़ेगा कि वह भाषा गंभीर विचारों के प्रदर्शन के अयोग्य थी। उसमें किसी घटना का वर्णन भली भाँति हो सकता है; और यही हुआ भी है। यही कारण है कि उन्हें सफलता अच्छी मिली है।

किशोरीलाल गोस्वामी

इसी समय पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों का प्रकाशन हो रहा था। जिस प्रकार खत्रीजी सरल और व्यावहारिक भाषा के पक्षपाती थे उसी प्रकार गोस्वामीजी संस्कृत की तत्समतामय उत्कृष्ट शब्दावली के। "गोस्वामीजी संस्कृत के अच्छे जानकार, साहित्य के मर्मज्ञ तथा हिंदी के पुराने कवि और लेखक हैं" अतः

उनकी भाषा भी उसी प्रकार संस्कृत एवं साहित्यिक है। जिस स्थान पर उन्होंने संस्कृत की जानकारी और साहित्य की मर्मज्ञता प्रकट की है वहाँ उनकी भाषा में उत्कृष्टता तो अवश्य उत्पन्न हो गई है परंतु उसी के साथ उसकी व्यावहारिकता लुप्त भी हो गई है। इस स्थान पर उनकी साहित्यिक सेवा का विवेचन अथवा हिंदी साहित्य में उनका स्थान-निदर्शन अभिप्रेत नहीं। इस विचार से तो उनका स्थान बड़े महत्त्व का है। परंतु यदि हम केवल उनकी भाषागत अथवा शैली की विशेषताओं की आलोचना सम्मुख रखें तो यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि उनका कहीं पता भी नहीं। उनकी कोई भाषा विशेष है अथवा नहीं इस विषय पर संदेह किया जा सकता है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि उनकी भाव-व्यंजना में कोई वैयक्तिकता तथा चमत्कार नहीं पाया जाता और दूसरी बात यह है कि उनके हिंदू और मुसलमान दोनों बनने की असंगत इच्छा ने बना बनाया खेल भी चौपट कर दिया।

उनकी—"रज़िया बेगम" और "मल्लिकादेवी" की—दोनों भाषाओं को पढ़कर कोई भी निश्चयात्मक रूप से विवेचन नहीं कर सकता कि इन दोनों में से कौन गोस्वामीजी की प्रतिनिधि भाषा है। उनके 'रज़िया बेगम' नामक उपन्यास की भाषा एकदम लचर है। "उर्दू ज़बान और शेर सख़ुन की बेढंगी नक़ल से, जो असल से कभी कभी साफ़ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है।" यदि वे उर्दूदानी दिखाने के विचार से अपनी लेखनी न उठाते तो अवश्य ही उनकी भाषा में क्रमशः वैयक्तिकता

का अभ्युदय होता। इस अवस्था में दो भिन्न भिन्न शैलियों का रूप सम्मुख देखकर उनकी भाषा का कोई रूप स्थिर करना अनुचित होगा। परंतु इतना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती कि जिस स्थान पर उनकी भाषा उपन्यास के संकुचित क्षेत्र से अलग थी वह स्वच्छ और चमत्कारपूर्ण बनी रही। स्थान स्थान पर मुहावरेदार होने के कारण उसमें कुछ विशेषता अवश्य आ गई है; परंतु सब मिलाकर वह इतनी बलवती नहीं हो सकी है कि गोस्वामीजी के लिये एक स्वतंत्र स्थान निर्माण करे। बाबू देवकीनंदनजी की कथात्मक भाषा-शैली से यह अधिक साहित्यिक है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसमें विचारात्मक भावनाओं का प्रकाशन अपेक्षाकृत अधिक दिव्यता से हो सकता है। यही कारण है कि उन्होंने चरित्र-चित्रण और घटना का मनोरम रूप से वर्णन इस भाषा में अच्छा किया है। उन उपन्यासों में जहाँ उन्होंने शुद्ध हिंदी का निर्वाह किया है इन बातों का विवेचन अच्छा दिखाई पड़ेगा, और उनके उपन्यासों के बाहर की भाषा कुछ अधिक चलती और धारावाहिक हुई है। जैसे—

"भारतवर्ष में सदा से सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं का राज्य जब तक स्वाधीन भाव से चला आया, तब तक इस देश में सरस्वती और लक्ष्मी का पूरा-पूरा आदर रहा, ब्राह्मणों के हाथ में विधि थी, क्षत्रियों के हाथ में खड्ग था, वैश्यों के हाथ में वाणिज्य था, और शूद्रों के हाथ में सेवा धर्म था; किंतु जब से यह क्रम बिगड़ने लगा ऐक्य के स्थान में फूट ने अपना पैर जमाया और सभी अपने कर्त्तव्य से च्युत होने लगे, देश की स्वतंत्रता भी ढीली पड़ने लगी और बाहरवालों को ऐसे अवसर में अपना मतलब गाँठ लेना सहज हो गया।

"लाखों बरस अर्थात् सृष्टि के आदि से यह (भारतवर्ष) स्वाधीन और सारे भूमंडल पर आधिपत्य करता आया था, पर महाभारत के पीछे यहाँवालों की बुद्धि कुछ ऐसी बिगड़ गई और आपस के फूट के कारण जयचंद ने ऐसा चौका लगाया कि सदा के लिये यह गुलामी की जंजीर से जकड़ दिया गया, जिससे अब इसका छुटकारा पाना कदाचित् कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी है।"

पद्य की छाप गद्य पर स्पष्ट पड़ती है। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का गद्य इस बात का साक्षी है। गद्य लिखते समय भी उपाध्यायजी का धारा-प्रवाह वस्तुत: पद्यात्मक ही रहता है। पद्य की सी ही लहर, शब्द-संगठन, भावभंगी एवं माधुर्य उनके गद्य में भी मिलता है। गद्यात्मक सौष्ठव का ह्रास और पद्यात्मक विभूति की उत्कृष्टता इनके गद्य में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इनका गद्य पढ़ते समय काव्यात्मक प्रतिभा का वह चमत्कार, शाब्दिक बाहुल्य का वह भांडार और भाव-निदर्शन की वह विशिष्टता प्राप्त होती है जो कि साधारणत: सामान्य कवियों में भी नहीं दिखाई पड़ती। यही कारण है कि "कभी कभी वे बड़े असाधारण क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं।" इसके अतिरिक्त भाव-व्यंजना का प्रकार भी कहीं कहीं इतना पद्यात्मक हो जाता है कि उसे गद्य कहना भ्रमात्मक ज्ञात होता है। परंतु इतना होते हुए भी उनके भावद्योतन में शैथिल्य नहीं दिखाई पड़ता।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

कुछ लोगों का कहना है कि "इस प्रकार के गद्य में साधारण विषयों की व्यंजना नहीं हो सकती।" यदि साधारण विषयों से भूगोल तथा इतिहास ऐसे विषयों का तात्पर्य है तो यह कहना समीचीन ज्ञात होता है; क्योंकि इतिवृत्तात्मक

कथानक के लिखने में काव्यात्मक व्यंजना का जितना ही लोप हो उतना ही अच्छा है। इसके अतिरिक्त जो लोग इनके गद्य में पंडित रामचंद्र शुक्ल की विशिष्टताएँ चाहते हैं वे भी अन्याय करते हैं। उपाध्यायजी में शब्द-बाहुल्य एवं वाक्य-विस्तार अधिक दिखाई पड़ता है जो कि शुक्लजी के ठीक विपरीत है। परंतु इसके लिये उपाध्यायजी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि दोनों लेखकों के दो भिन्न भिन्न मार्ग और विचार हैं। शुक्लजी विषय-प्रतिपादन में अधिक सतर्क रहते हैं और गागर में सागर भरते हैं। उसी में उन्हें अच्छी सफलता मिली है। उनके शब्द और वाक्य-समूह भाव-गांभीर्य से आक्रांत रहते हैं परंतु उपाध्यायजी में ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती। उनका भाव-निदर्शन अधिक काल्पनिक एवं साहित्यिक होता है। उसमें गद्यात्मक गठन भले ही न हो, परंतु मिठास और काव्यात्मक ध्वनि इतनी रहती है कि पाठक उधर ही आकृष्ट हो जाता है। इस ध्वनि विशेष के कारण ही उनमें आलंकारिकता तथा सानुप्रासिकता अधिक स्थानों में दिखाई पड़ती है, और कथन-प्रणाली विस्तृत होती है। निम्नलिखित गद्यांश में ये बातें स्पष्ट दिखाई पड़ेंगी—

"कहते व्यथा होती है कि कुछ कालोपरांत हमारे ये दिन नहीं रहे—हममें प्रतिकूल परिवर्तन हुए और हमारे साहित्य में केवल शांत और शृंगार रस की धारा प्रबल वेग से बहने लगी। शांत रस की धारा ने हमको आवश्यकता से अधिक शांत और उनके संसार की असारता के राग ने हमें सर्वथा सारहीन बना दिया। शृंगार रस की धारा ने भी हमारा अल्प अपकार नहीं किया। उसने भी हमें कामिनी-कुल-शृंगार का लोलुप बनाकर समुन्नति के समुच्च शृंग से अवनति के विशाल

गर्त में गिरा दिया। इस समय हम अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता, अकर्मण्यता, अकर्मपटुता को साधुता के परदे में छिपाने लगे—और हमारी विलासिता, इंद्रिय-परायणता, मानसिक मलिनता भक्ति के रूप में प्रकट होने लगी। इधर निराकार की निराकारिता में रत होकर कितने सब प्रकार बेकार हो गए और उधर आराध्यदेव भगवान् वासुदेव और परम आराधनीया श्रीमती राधिका देवी की आराधना के बहाने पावन प्रेम-पंथ कलंकित होने लगा। न तो लोकपावन भगवान् वासुदेव लौकिक प्रेम के प्रेमिक हैं, न तो वंदनीया वृषभानु-नंदिनी कामनामयी प्रेमिका, न तो भुवन-अभिराम वृंदावन धाम अवैध विलास-वसुंधरा है, न कलकल-वाहिनी कलिंद-नंदिनी-कूल कामकेलि का स्थान। किंतु अनधिकारी हाथों में पड़कर वे वैसे ही चित्रित किए गए हैं। कतिपय महात्माओं और भावुक जनों को छोड़कर अधिकांश ऐसे अनधिकारी ही हैं, और इसलिये उनकी रचनाओं से जनता पथ-च्युत हुई। केहरिपत्नी के दुग्ध का अधिकारी स्वर्ण-पात्र है, अन्य पात्र उसको पाकर अपनी अपात्रता प्रकट करेगा। मध्यकाल से लेकर इस शताब्दी के प्रारंभ तक का ही हिंदी साहित्य उठाकर आप देखें वह केवल विलास का क्रीड़ा-क्षेत्र और काम-वासनाओं का उद्गार मात्र है। संतों की बानी और कतिपय दूसरे ग्रंथ जो हिंदू जाति का जीवनसर्वस्व, उन्नायक और कल्पतरु है, जो आदर्श चरित्र का भांडार और सद्भाव-रत्नों का रत्नागार है, जो आज दस करोड़ से भी अधिक हिंदुओं का सत्पथ-प्रदर्शक है, यदि वह है तो रामचरितमानस है, और वह गोस्वामीजी के महान् तप का फल है।"

इस प्रकार के गद्यांशों में साहित्यिक छटा के अतिरिक्त भाषा-गांभीर्य भी पर्याप्त दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की रचनाओं के बीच जब कभी 'करके', 'होवे' और 'होता होवे' इत्यादि शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है तो पंडिताऊपन की

दुर्गंध आने लगती है। परंतु यह सब होते हुए भी भाषा में शैथिल्य नहीं होने पाता।

उपाध्यायजी ने केवल साहित्यिक गद्य की ही रचना की हो ऐसी बात नहीं है। साधारण जनता के लिये ठेठ भाषा के निर्माण में भी वे सफल हुए हैं। इसके प्रमाण उनका 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक उपन्यास हैं। उसमें जिस ठेठ भाषा का प्रयोग हुआ है वह वस्तुतः ग्राम्य जीवन के उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त इधर कुछ दिनों से वे मुहाविरेदार पद्य और गद्य का निर्माण कर रहे हैं। उसमें एक प्रकार की सजीवता विशेष दिखाई पड़ती है। कहीं कहीं तो सारी भाव-व्यंजना ही मुहावरों में हुई है। ऐसे स्थानों पर भाषा गठित और भाव-व्यंजना आकर्षक हुई है। इन स्थानों पर भाषा में साहित्यिकता और गांभीर्य न होकर एक प्रकार की चटपटी उछल-कूद दिखाई पड़ती है। उसकी व्यंजनात्मक शक्ति ही निराली है। जैसे—

"हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर काम आँख के तारे भी नहीं देते। हम पर लगाकर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव भी नहीं उठते। हम पालिसी पर पालिश करके उसके रंग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालिसी हमारे बने हुए रंग को भी बदरंग कर देती है। हम राग अलापते हैं मेल-जोल का, मगर न जाने कहाँ का खटराग पेट में भरा पड़ा है। हम जाति जाति को मिलाने चलते हैं, मगर ताब अछूतों से आँख मिलाने की भी नहीं। हम जाति-हित की तानें सुनाने के लिये सामने आते हैं, मगर ताने दे दे कलेजा छलनी बना देते हैं। हम कुल हिंदू जाति को एक रंग में रँगना चाहते हैं, मगर जाति जाति के अपनी अपनी डफली और अपने अपने

राग ने रही सही एकता को भी धता बता दिया है। हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मुँह के बल गिर पड़ते हैं। हमें देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते हैं जाति की कसर निकालना, मगर हमारे जी की कसर निकाले भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊँचे उठाना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमें मर मिटना आता ही नहीं।"

माधव मिश्र

इन प्रतिनिधि लेखकों के बीच में अब दो लेखक ऐसे उपस्थित किए जाते हैं जिनका नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं है। जिन लोगों ने उनकी रचना-शैली की विशेषता पर विशेष ध्यान नहीं दिया है उन लोगों को संभवतः ज्ञात भी न होगा कि पंडित माधव मिश्र और सरदार पूर्णसिंहजी भी कोई अच्छे लेखक थे। इन दोनों लेखकों ने इने गिने लेख लिखे हैं परंतु उन लेखों में उनका व्यक्तित्व अंतर्निहित है। इन लोगों की कुछ विशेषताएँ ऐसी थीं जिनका आभास और किसी की रचना में हम नहीं पाते। इनके थोड़े से लेखों के पढ़ने से ही ज्ञात हो जाता है कि यदि लेखक बराबर अपने निकाले पथ पर चलते तो भाषा की वह दिव्यता दिखाते कि एक बार पढ़नेवाले चकपकाकर दंग रह जाते।

पंडित माधव मिश्र की रचना में चमत्कार का बड़ा ही आकर्षक रूप है। इनकी भाषा बड़ी सतर्क हुई है। स्थान स्थान पर क्रमागत भावोदय का सुंदर चित्र मिलता है। ये अपने प्रतिपाद्य विषय का उत्थान बड़ी गंभीरता और शक्ति के साथ करते थे। इनकी वाक्य-रचना में बड़ा ओज और बड़ी प्रकाशन-

शक्ति है। कुछ वाक्य-समूह इस प्रकार ग्रथित मिलते हैं कि उनमें एक ही ढंग का उतार चढ़ाव पाया जाता है। इससे वाक्य-विन्यास और भी चमत्कारपूर्ण हुआ है। इसी वाक्य-विन्यास के कारण इनकी भाषा-शैली में धारा-प्रवाह का एक बँधा रूप दिखाई पड़ता है। वाक्य-समूह के प्रथम वाक्य से यदि पढ़ना आरंभ किया जाय तो जब तक अंत तक न पहुँचें रुकते नहीं बनता; और यदि रुकें तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि विषय अपूर्ण रह गया है। इस धारावाहिक प्रगति के कारण इनकी रचना में एक वैचित्र्य पाया जाता है जिसे हम वैयक्तिकता कह सकते हैं। शब्द-चयन के विचार से हम यह कह सकते हैं कि इनका झुकाव अधिक संस्कृत तत्सम-मता की ओर था। भाषा संस्कृत-बहुला होने पर भी ऊबड़-खाबड़ नहीं होने पाई है। वह बड़ी ही संस्कृत, संयत एवं सुष्ठु हुई है। इस प्रकार की भाषा में किसी गहन विषय का अच्छा विवेचन तथा प्रतिपादन हो सकता है। इसके अतिरिक्त इनकी भाषा इनकी आंतरिक भावनाओं का इतना मार्मिक चित्र उपस्थित करती है कि शब्दावली से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक के हृदय में भावावेश की कैसी प्रबलता है। जिस स्थान पर इनके हृदय में करुणात्मक भावोदय का आरंभ होता है वहाँ भाषा में भी एक प्रकार की कारुणिक ज्योति उत्पन्न हो जाती है। जिस स्थान पर हृदय में क्रोध का आवेश रखकर वे लिखते हैं वहाँ की भाषा में भी कुछ उग्रता झलकती है। जैसे—"निरंकुशता और धृष्टता आजकल ऐसी बढ़ी है कि निरर्गलता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भ्रांत मत का प्रचार करनेवाले यदि वेबर साहब यहाँ होते

तो हम उन्हें दिखाते कि जिसका वे अपनी विषदग्धा लेखनी से जर्मनी में वध कर रहे हैं वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है।"

उनकी गद्य-शैली में प्रधान चमत्कार नाटकत्व का है। इस नाटकत्व और वक्तृता की भाषा में विशेष अंतर न मानना चाहिए। श्रोता किसी विषय को सुनकर अधिक प्रभावित हो, केवल इस विचार से एक ही बात को, इधर उधर कई प्रकार से, कई वाक्यों में कहा जाता है। "राम नाम ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और राम नाम ही हमारे अंधे घर का दीपक है," "यही डूबते हुए भारतवर्ष का सहारा है और यही अंधे भारत के हाथ की लकड़ी है" इत्यादि वाक्यांशों में वक्तृतामय कथन का आभास स्पष्ट मिलता है। इतना ही नहीं, कथन की यही प्रवृत्ति कभी कभी बड़े विस्तार में उपस्थित होती है। सारांश यह कि मिश्रजी की भाषा बड़ी प्रौढ़, ओजस्विनी, परिमार्जित एवं सतर्क हुई है; उसमें उत्कृष्टता और ओज का अच्छा सम्मेलन है; नाटकत्व और वक्तृत्व का स्थिर सामंजस्य पाया जाता है। एक छोटे से अवतरण से इनकी सारी विशेषताएँ देख ली जा सकती हैं।

"आर्य वंश के धर्म-कर्म और भक्ति-भाव का वह प्रबल प्रवाह—जिसने एक दिन बड़े बड़े सन्मार्ग-विरोधी भूधरों का दर्प दलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था—और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश—जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम तक न छोड़ा था—अब कहाँ है?......जो अपनी व्यापकता के कारण प्रसिद्ध था, अब उस प्रवाह का प्रकाश भारतवर्ष में नहीं है, केवल उसका नाम ही अवशिष्ट

रह गया है। कालचक्र के बल, विद्या, तेज, प्रताप आदि सब का चकनाचूर हो जाने पर भी उनका कुछ-कुछ चिह्न व नाम बना हुआ है, यही डूबते हुए भारत का सहारा है और यही अंधे भारत के हाथ की लकड़ी है।

"जहाँ महा महा महीधर ढुलक जाते थे और अगाध अतल-स्पर्शी जल था, वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी सी सुशीतल वारिधारा बह रही है जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथाकथंचित् संताप दूर हो रहा है। जहाँ के महा प्रकाश से दिक् दिगंत उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है। पाठक! ज़रा विचार कर देखिए, ऐसी अवस्था में यहाँ कब तक शांति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी? यह किससे छिपा हुआ है कि भारतवर्ष की सुख शांति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल 'राम नाम' पर अटका है। राम नाम ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और राम नाम ही हमारे अंधे घर का दीपक है।"

मिश्रजी की भाँति सरदार पूर्णसिंह अध्यापक की भी रचना बहुत कम है। परंतु कम होना असामर्थ्य का प्रमाण नहीं; क्योंकि कुछ लोग ऐसे होते हैं कि लिखते तो बहुत कम हैं परंतु उतने में ही अपनी उद्भावना शक्ति एवं प्रतिभा का पूर्ण परिचय दे देते हैं। अध्यापकजी भी इसी प्रकार के लेखकों में से हैं। लिखा तो इन्होंने बहुत कम है परंतु जो कुछ लिखा है,—जितने लेख इनके संगृहीत हैं, उनसे यह बात स्पष्ट है कि अध्यापकजी कितनी सुंदर एवं प्रौढ़ रचना कर सकते थे। उनकी लेखनी ने कुछ अंशों में

पूर्णसिंह

आजकल की एक विशेष प्रवृत्ति का आभास दिया था। आज-कल जो भाषा पांडेय बेचन शर्मा एवं अन्यान्य गल्प-लेखकों में पाई जाती है, जिसमें एक साधारण बात कहकर उसके जोड़तोड़ के सैकड़ों वाक्य उपस्थित कर दिए जाते हैं, वही उनकी साधारण रचनाओं में मिलती है। इस प्रणाली के अनुसरण से एक लाभ यह हुआ कि उनकी भाषा अधिक आकर्षक और चमत्कृत हो गई है। जैसे—"इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत की अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है। विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्रकला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनानेवाले के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।" इसके अतिरिक्त इन्होंने अपनी भावनाओं को प्राय: रहस्यमय रूप में व्यक्त किया है। रहस्यमय रूप का तात्पर्य केवल इतना ही है कि शब्द-चयन में जो चमत्कारिक वैलक्षण्य है वह तो है ही, भाव-व्यंजना भी अनूठी और दूर तक बढ़ी हुई है। "नाद करता हुआ भी मौन है," "मौन व्याख्यान," "हृदय की नाड़ी में सुंदरता पिरो देता है," "तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का" इत्यादि वाक्यांशों में विशेषण और विशेष्य के विरोधाभास का विलक्षण प्रसार मिलता है। शब्दचयन का यह प्रकार और निर्जीव में सजीवता का आभास इनकी रचना में विशेष आकर्षण उपस्थित करता है।

अध्यापक जी की गद्य-शैली की इस एकांत उत्कृष्टता के बीच-बीच में व्यंग्यात्मक दृष्टांतों के आ जाने से एक रुचिकर

और आकर्षक रूप उपस्थित हो गया है। "यह वह आम का पेड़ नहीं है जिसको मदारी एक क्षण में तुम्हारी आँखों में धूल झोंक अपनी हथेली पर जमा दे" अथवा "पुस्तकों के लिखे नुसख़ों से तो और भी बदहज़मी हो जाती है। सारे वेद पुराण और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं हो सकती", अथवा "परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस के पंडितों के लिये रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिये स्टीम इंजिन के फप्-फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते।"

इन वाक्यों में कथन की चमत्कारिक प्रणाली का अच्छा उदाहरण मिल सकता है। मिश्रजी की भाँति इनका भी झुकाव भाषा की विशुद्धता की ओर अधिक था। जैसा कि साधारणत: अन्य लेखकों में पाया जाता है कि कथानक के वर्णन करने की भाषा सरल एवं अधिक चलती होती है और विचार-प्रकाशन की कुछ अधिक क्लिष्ट और प्रचंड; उसी प्रकार इनकी लेखन-प्रणाली में भी अंतर रहता है। जिस स्थान पर सीधे-सादे कथानक का वर्णन करना है वहाँ वाक्य भी सरल, स्पष्ट तथा अपेक्षाकृत छोटे हुए हैं। जैसे—

"एक दफे एक राजा जंगल में शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। घोड़ा उसका मर गया। बंदूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है। ओले पड़ रहे हैं।

ठंढी हवा उसकी हड्डी तक को हिला रही है। प्रकृति ने, इस घड़ी, इस राजा को अनाथ बालक से भी अधिक बे-सरो-सामान कर दिया। इतने में दूर एक पहाड़ी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे-नीचे उतार-चढ़ाव को पार करने से थका हुआ, भूखा, और सर्दी से ठिठुरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमें किसान, उसकी स्त्री और उनके दो-तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपने झोपड़े में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियाँ और साग आगे रक्खा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। आप बे-बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है तू, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है! तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्त्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।"

परंतु जिस स्थान पर कुछ विवेचना की आवश्यकता पड़ी है, कुछ गंभीरता अपेक्षित हुई है वहाँ आपसे आप भाषा भी कुछ क्लिष्ट हो गई है और वाक्यों की लघुता भी लुप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं तो वाक्य-रचना की दुरूहता के कारण रुककर सोचने विचारने की आवश्यकता पड़ती है। छोटे छोटे वाक्यों में लिखते लिखते अकस्मात् हम देखते हैं कि एक वाक्य इस प्रकार का उपस्थित हो जाता है जो स्वाभाविक गति को रोक देता है। एकाएक इस क्लिष्टता और दुरूहता के कारण भाषा का अधिकार हलका दिखाई पड़ने लगता है और एक प्रकार की अस्वाभाविकता सी जान पड़ने लगती है। इतना ही नहीं, कहीं कहीं पर विभक्तियों की भरमार के कारण

भाषा के प्रवाह में रुकावट भी आ गई है। जैसे—"उन सब को जाति के आचरण के विकाश के साधनों के संबंध में विचार करना होगा।" भाव की दुरूहता का प्रभाव वाक्य-रचना में और भावभंगी में स्पष्ट दिखाई देता है—

"अपने जन्म जन्मांतरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल सका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं।" "आचरण के विकाश के लिये नाना प्रकार की सामग्री का जो संसार-संभूत, शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान है, उन सब का क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के—आचरण के विकाश के साधनों के संबंध में, विचार करना होगा।" "मानसोत्पन्न शरद्ऋतु के क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंधमय अटल वसंत ऋतु के आनंद का पान करते हैं।"

श्यामसुंदरदास

भाषा भाव की अनुरूपिणी होती है। जैसा विषय होता है वैसी ही भाषा भी आवश्यक होती है। इसके लिये लेखक को चेष्टा नहीं करनी पड़ती। यह बहुत कुछ स्वाभाविक होता है। बहुत दिनों तक कथा कहानी उपन्यास नाटक एवं अन्य प्रकार के साधारण विषयों का ही प्रणयन होता रहा। साधारण से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे विषयों का लिखना अत्यंत सरल है, वरन् मेरा अभिप्राय केवल यह है कि इनमें घटनाओं का सीधा-सादा वर्णन रहता है। सीधे सीधे किसी विषय का विवरण देना अथवा कथानक उपस्थित करना अपेक्षाकृत उतना कठिन कार्य नहीं है। इस समय तक भाषा में जितनी प्रौढ़ता वर्तमान है उसका आश्रय लेकर इन विषयों का विवरण देना अधिक दुरूह

नहीं। कोई समय ऐसा था कि कथा-कहानियों का लिखना भी बड़ी बात माननी पड़ती थी; परंतु आज भाषा का साम्राज्य पर्याप्त रूप से विस्तृत हो चुका है और अनेक प्राचीन विषयों की पुनरावृत्ति एवं नवीन विषयों का समारंभ हो चला है। इस समय यदि भाषा की प्रौढ़ता तथा उद्भावना-शक्ति की परीक्षा करनी हो तो हमें उन रचनाओं की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा जो वस्तुतः इस काल की संपत्ति हैं और जिन पर अभी तक कुछ विशेष नहीं लिखा गया है।

नवीन विचार-धारा को व्यक्त करने के लिये भाषा का कोई नया ढंग पकड़ना पड़ता है। ऐसी अवस्था में लेखक के उत्तरदायित्व की परिधि अत्यंत विस्तृत हो जाती है। उसे भाषा में कुछ विशेष विधान उपस्थित करना पड़ता है। उसके लिये भावों का नियंत्रण आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त उसका यह कर्त्तव्य होता है कि भाव-व्यंजना का वह ऐसा सरल रूप सम्मुख रखे जिसका आश्रय लेकर पाठक उन नवीन विषयों की सम्यक् अनुभूति कर सके।

इस प्रकार के लेखक का उत्तरदायित्व बड़ी महत्ता का होता है। बाबू श्यामसुंदरदासजी इसी प्रकार के लेखकों में हैं। उन्हें भाषा को व्यापक बनाना पड़ा है, क्योंकि जिन विषयों पर उन्हें लिखना था उन विषयों का अभी तक हिंदी-साहित्य में जन्म ही नहीं हुआ था, उन्हें लिखकर समझाने का अवसर ही नहीं आया था। इसके अतिरिक्त उन्हें इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ा है कि विषय का भली भाँति निदर्शन हो—और वह निदर्शन भी इतनी सरलता से हो कि नवीन पाठक ठिकाने से उन्हें समझ लें। यही कारण

है कि उनकी शैली में हम उन्हें एक ही विषय को बार बार समझाते हुए पाते हैं। इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर "सारांश यह है" कहकर पुनः प्रतिपाद्य विषय को एकत्र करने की वे चेष्टा करते हैं। यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि लिखते समय लेखक इस विषय में अधिक सचेष्ट है कि कहीं भावों की व्यंजनात्मक शक्ति का क्रमशः ह्रास तो नहीं हो रहा है। यदि किसी स्थान पर उसे इस बात की आशंका हुई है तो वह पुनः, यथा-अवसर, विषय को अधिक स्पष्ट एवं व्यापक बनाने में तत्पर रहा है। यही कारण है कि कहीं कहीं एक ही बात दुहराकर लिख दी गई है।

यों तो इनकी रचना में साधारणतः उर्दू के अधिक प्रचलित शब्द अवश्य आए हैं; जैसे-खाली, दिल, बंद, कैदी, तूफान इत्यादि, परंतु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति इन्हें भी दोरंगी दुनिया पसंद है। इन शब्दों के प्रयोग में भी—यह तो निर्विवाद ही है कि—इन्होंने सदैव तद्भव रूप का व्यवहार किया है। इसमें यह आशय गुप्त रूप में वर्तमान है कि इन शब्दों को अपनी भाषा में हड़प लिया जाय। इस विषय में, उन्होंने अपना विचार स्पष्ट लिखा है—"जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप, रंग, आकार, प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनको स्वीकार करने में सदा खटक

तथा अड़चन रहेगी।" उन्होंने उर्दू के अधिकाधिक प्रचलित शब्दों का ही व्यवहार किया है और वह भी इतना न्यून कि संस्कृत की तत्समता की धूमधाम में उनका पता भी नहीं लगता। यह धूमधाम क्लिष्टता की बोधक कदापि नहीं हो सकती जैसा कि कुछ उर्दू-मिश्रित भाषा का व्यवहार करने-वालों का विचार है। इनकी संस्कृत तत्समता में अव्या-वहारिक एवं समासांत पदावली का उपयोग नहीं पाया जाता। साथ ही व्यर्थ का शब्दाडंबर भी विशेष नहीं मिलता। इनकी भाषा इस बात का उदाहरण हो सकती है कि हिंदी भाषा के शब्द-विधान में भी कितनी उत्कृष्टता तथा विशदता है। शैली साधारणतः संगठित तथा व्यवस्थित पाई जाती है। इसके अतिरिक्त उसमें एक धारावाहिक प्रवाह भी मिलता है। शैली का यह प्रावाहिक रूप उन स्थानों पर विशेषतः पाया जाता है जहाँ किसी विचार का प्रतिपादन होता है। ऐसे स्थानों पर भाषा कुछ क्लिष्ट—परंतु स्पष्ट और बोधगम्य—वाक्य साधारण विचार से कुछ बड़े—परंतु गठन में सीधे-सादे, भाव-व्यंजना विशद—परंतु सरल और व्यापक हुई है। इसके अतिरिक्त विषय प्रतिपादन के बीच बीच में यदि आवश्यकता पड़ी है तो उन्होंने "जैसे" का प्रयोग कर उसे स्पष्ट बनाने का भी आयोजन किया है। जैसे—

"हिंदी-साहित्य का इतिहास ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न भिन्न कालों में ठीक ठीक विभक्त नहीं कर सकते हैं। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के प्रवाह के समान है जिसकी धारा उद्गम-स्थान में तो बहुत छोटी होती है पर आगे बढ़कर और छोटे छोटे टीलों या पहाड़ियों के बीच में पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं

में बहने लगती है। बीच बीच में दूसरी छोटी छोटी नदियाँ कहीं तो आपस में दोनों का संबंध करा देती हैं और कहीं कोई धारा प्रबल वेग से बहने लगती है और कोई मंद गति से। कहीं खनिज पदार्थों के संसर्ग से किसी धारा का जल गुणकारी हो जाता है और कहीं दूसरी धारा के गँदले पानी या दूषित वस्तुओं के मिश्रण से उसका जल अपेय हो जाता है। सारांश यह कि जैसे एक ही उद्गम से निकलकर एक ही नदी अनेक रूप धारण करती है और कहीं पीनकाय तथा कहीं क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है और जैसे कभी कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती और अनेक भूभागों से होकर बहती है वैसे ही हिंदी साहित्य का इतिहास भी आरंभिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है। प्रारंभ के कवि लोग स्वतंत्र राजाओं के आश्रित होकर उनके कीर्तिगान में लगे और देश के इतिहास को कविता के रूप में लिखते रहे। समय के परिवर्तन से साहित्य की यह स्थूल धारा क्रमशः क्षीण होती गई, क्योंकि उसका जल खिँचकर भगवद्भक्ति रूपी धारा, रामानंद और बल्लभाचार्य के अवरोध के कारण दो धाराओं में विभक्त होकर, राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के रूप में परिवर्तित हो गई। फिर आगे चलकर केशवदास के प्रतिभा-प्रवाह ने इन दोनों धाराओं के रूप को बदल दिया। जहाँ पहले भाव-व्यंजना या विचारों के प्रत्यक्षीकरण पर विशेष ध्यान रहता था, वहाँ अब साहित्य शास्त्र के अंग-प्रत्यंग पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। राम-भक्ति की धारा तो तुलसीदासजी के समय में खूब ही उमड़ चली। उसने अपने अमृतोपम भक्तिरस के द्वारा देश को आप्लावित कर दिया और उसके सामने मानव जीवन का सजीव आदर्श उपस्थित कर दिया।"

शैली के विचार से दासजी में एक और विशेषता है; वह भी उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट हो जाती है। कोई भी विषय

कितना ही कठिन क्यों न हो यदि लेखक सरल प्रणाली का अनुसरण करे तो अपनी प्रतिभा से अपने विषय को शीघ्र बोधगम्य बना सकता है। यही बात हम इस अवतरण में भी पाते हैं। विषय को अत्यंत सरल रूप में सम्मुख उपस्थित करना दासजी भली भाँति जानते हैं। एक साधारण रूपक बाँधकर उन्होंने अपने विषय को अधिक व्यापक बना दिया है। इससे विषय स्पष्ट ही नहीं वरन् शैली रोचक हो गई है। उनका विचार है कि विरामादिक चिह्नों का अधिक प्रयोग व्यर्थ है, और यही कारण है कि उनकी रचनाओं में उनका प्रयोग कम हुआ है। ऊपर दिया हुआ अवतरण उस स्थान का है जहाँ पर एक साधारण विषय का प्रतिपादन हो रहा था। एक तो विषय अपेक्षाकृत सरल था और दूसरी बात यह थी कि उसका प्रतिपादन किया जा रहा था, अतएव भाषा का प्रवाह स्वभावतः चलता और धारावाहिक था। परंतु इस प्रकार की भाषा और उसका प्रवाह सर्वत्र एक सा नहीं मिलेगा। इस बात का समर्थन स्वतः उन्होंने किया है—"जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिये छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है।" "सरल और सुबोध विषयों के लिये यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों तो उनसे उतनी हानि नहीं होती।" इसी सिद्धांत का अनुसरण उनकी उन रचनाओं में हुआ है जहाँ पर उन्हें किसी जटिल विषय का गवेषणात्मक विवेचन एवं तथ्यातथ्य का निरूपण करना पड़ा है। ऐसे स्थानों में उनके वाक्य अपेक्षाकृत अवश्य छोटे हुए हैं, भाषा अधिक विशुद्ध एवं कुछ क्लिष्ट हुई है। जैसे—

"भाषा विज्ञान ने जातियों के प्राचीन इतिहास अर्थात् उनकी सभ्यता के विकास का इतिवृत्त उपस्थित करने में बड़ी अमूल्य सहायता दी है। पुरातत्व तो प्राप्त भौतिक पदार्थों अथवा उनके अवशेषांशों के आधार पर ही केवल प्राचीन समय का इतिहास उपस्थित करता है। प्राचीन जातियों के मानसिक विकास का ब्योरा देने में वह असमर्थ है। भाषा विज्ञान इस अभाव की भी पूर्ति करता है। मानसिक भावों या विचारों संबंधी शब्दों में उनका पूरा पूरा इतिहास भरा पड़ा है; और उनके आधार पर हम यह जान सकते हैं कि प्राचीन समय में किस जाति के विचार कैसे थे; वे ईश्वर आत्मा आदि के संबंध में क्या सोचते या समझते थे; उनकी रीति नीति कैसी थी तथा उनका गार्हस्थ्य, सामाजिक, धार्मिक, या राजनीतिक जीवन किस श्रेणी या किस प्रकार का था। सारांश यह कि भाषा विज्ञान ने पुरातत्व के साथ मिलकर प्राचीन जातियों के भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास का एक प्रकार से पूरा पूरा इतिहास उपस्थित कर दिया है।"

अथवा—

"यह बात स्पष्ट है कि मानव-समाज की उन्नति उस समाज के अंतर्भूत व्यक्तियों के सहयोग और साहचर्य से होती है; पर इस सहयोग और साहचर्य का साफल्य तभी संभव है जब परस्पर भावों या विचारों के विनिमय का साधन उपस्थित हो। भाषा ही इसके लिये मूल साधन है और इसी की सहायता से मानव-समाज की उन्नति हो सकती है। अतएव भाषा का समाज की उन्नति के साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध है; यहाँ तक कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही संभव नहीं। पर यहीं उनके संबंध के साफल्य की इतिश्री भी नहीं होती। दोनों साथ ही साथ चलते हैं। समाज की उन्नति के साथ भाषा की उन्नति और

भाषा की उन्नति के साथ समाज की उन्नति होती रहती है। इसलिये हम कह सकते हैं कि उनका अन्योन्याश्रय संबंध है।''

उपर्युक्त गद्यांश की शैली में भाषा के वशिष्ठ रूप की एक सफल प्रतिमा है। इस प्रतिभा को हम वैयक्तिकता का नाम नहीं दे सकते, यह बात ठीक है; किंतु इसमें गवेषणात्मक विवेचना का बोधगम्य स्वरूप अवश्य उपस्थित किया गया है। ''गंभीर बातों पर लिखते समय बड़े अभ्यस्त लेखक को भी शाब्दिक सारल्य से हाथ धोना पड़ता है और उसे सीधे संस्कृत से जटिल शब्द लाकर रखने पड़ते हैं।'' उर्दू ऐसे गंभीर विषयों की ओर बहुत नहीं बढ़ सकी है, अतएव उस भाषा के शब्दों की ओर देखना ही व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं। इस समय तक हिंदी गद्य ने इतनी प्रौढ़ और उन्नतिशील उन्नति कर ली है कि उसमें उत्कृष्ट विषयों के खंडन-मंडन एवं प्रतिपादन के लिये पर्याप्त सामर्थ्य आ गया है। इसी उन्नति की परिचायक दासजी की भाषा है। उसमें सानुप्रासिक वर्ण-मैत्री का सुंदर और आकर्षक रूप भी मिलता है; उसमें भविष्य की वह महत्वाकांक्षा सन्निविष्ट है जिसके वशीभूत होकर साहित्य-संसार में नित्य वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक ग्रंथों का प्रणयन बढ़ता ही जायगा।

चंद्रधर गुलेरी

बाबू श्यामसुंदरदास की रचना-शैली के ठीक विपरीत गुलेरीजी की रचना-शैली है। दासजी की भाषा-शैली साहित्यिक एवं साधारण व्यवहार से परे है और गुलेरीजी की नितांत स्पष्ट, सरल एवं व्यावहारिक है। उनकी भावभंगी उत्कृष्ट और इनकी चटपटी

है। उनकी शब्दावली में संस्कृत की छाप और वाक्य-विन्यास में विस्तार है; परंतु इनकी शब्दावली चलती, सरल और विशिष्टतापूर्ण है तथा वाक्य-विन्यास आकर्षक, गठित और मुहावरेदार है। इनके इतिवृत्त की कथन-प्रणाली में भी विभिन्नता है। दासजी इस विचार से अधिक आलंकारिक एवं साहित्यिक हैं और गुलेरीजी मुहावरे पर जान देनेवाले और व्यंग्यपूर्ण हैं। इन विभिन्नताओं का प्रधान कारण है दोनों लेखकों का, साहित्यिक रचना का, उद्देश्य। दोनों दो भिन्न विषयों के लेखक हैं। दासजी के विषय अधिकांश में साहित्यिक आलोचना और भाषा-विज्ञान के हैं और गुलेरीजी प्रधानतः सामयिक विषयों पर लिखते थे। उन सामयिक विषयों में आलोचना, इतिहास और समाज-सुधार के प्रश्न विशेषतः आते हैं। कार्यक्षेत्र एक रहने पर भी दोनों लेखकों के मार्ग सर्वथा भिन्न भिन्न हैं।

गुलेरीजी की रचना-शैली की प्रधानता उसकी व्यावहारिकता में है। उनकी शैली में विचित्र चलतापन है। किसी विषय को सीधी-सादी भाँति सम्मुख उपस्थित करके, विषय का प्रतिपादन करते समय छोटे छोटे और स्पष्ट वाक्यों की आकर्षक मालिका गूँथकर, उसमें मुहावरों के उपयुक्त और सामयिक व्यवहार करके वे जान डाल देना भली भाँति जानते थे। किसी विषय को रोचक बनाने के विचार से वे स्थान स्थान पर उर्दू पदावली का प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त अँगरेजी शब्दों का व्यवहार भी विशेष ध्यान देने योग्य है। कहीं कहीं तो ये शब्द व्यावहारिक और नित्य बोलचाल में आनेवाले हैं; जैसे—पब्लिक, पालिश और मेंबर इत्यादि,

और कहीं कहीं वे क्लिष्ट, अव्यावहारिक एवं जटिल हैं; जैसे— assumed, dramatic, necessity, conference, Provisional Committee, presentiment और telepathy इत्यादि। इस प्रकार के शब्दों के साधारण व्यवहार से स्थान स्थान पर वाक्यों की बोधगम्यता नष्ट हो जाती है और प्रधानतः उस समय जब पाठक अँगरेजी भाषा का ज्ञाता नहीं है। अन्य भाषा के अव्यावहारिक शब्दों के प्रयोग से अपनी भाषा की असमर्थता प्रकट होती है।

गुलेरीजी संस्कृत भाषा और साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। यह बात उनके गंभीर लेखों से स्पष्ट हो जाती है। जिस समय वे अपने विषय का सतर्क प्रतिपादन करते हुए पाए जाते हैं तब उनकी भाषा परिमार्जित तथा प्रौढ़ ज्ञात होती है। वहाँ उनका साहित्यिक मसखरापन भाव की विशुद्धता से आक्रांत रहता है। यही कारण है कि उस समय की भाषा-शैली में स्वच्छता, वाक्य-विन्यास में संगठन और शब्द-समूह में परिष्कृति दिखाई देती है। उनके गंभीर विषयों पर लिखे गए लेखों की भाषा प्रायः संस्कृत-बहुला है। इस संस्कृत का संस्कार उनके क्रिया-शब्दों पर अधिक पड़ा। उन्होंने प्रायः 'करैं', 'रहैं', 'चाहैं,' 'कहैंगे', 'सुनावैंगे', 'निल्हाया', 'कहलावैं', 'कहलवाते हैं', 'जिनने', 'बेर', 'खैंच' और 'दीखतं' इत्यादि का प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोगों में अशुद्धि भले ही न हो परंतु पंडिताऊपन अवश्य झलकता है। इस संस्कार का प्रभाव वाक्य-विन्यास और कथन-प्रणाली पर भी पड़ा है। जैसे—"ऋषि (सुकन्या से) बोला 'बाले! हम सब एक साथ दिखाई देते हुए निकलेंगे, तू तब मुझे इस चिह्न से

पहचान लेना।' 'वे सब ठीक एकाकार दीखते हुए स्वरूप में अति सुंदर होकर निकले।'

यह सब होते हुए भी उनकी गंभीर रचनाओं में बल है, प्रतिभा है और एक प्रकार का विचित्र आकर्षण है। अपने विषय-प्रतिपादन की क्षमता उनमें अपूर्व थी। ऐसे अवसरों पर वे बड़े क्लिष्ट और अर्थ-गंभीर शब्दों का प्रयोग बहुतायत से करते थे। जैसे—

"प्रथम तो काशी से सामाजिक परिषद् को उड़ाने का जो यत्न किया जा रहा है वह अनर्गल, इति-कर्तव्यता-शून्य, उपेक्ष्य और एकदेशी है। इसका प्रधान उद्देश्य मालवीयजी को अपदस्थ करना है और गौण उद्देश्य कुछ आत्मंभरि लोगों की तिलक बनने की लालसा है। युक्तप्रांत में बहुत से लोगों को तिलक बनने की लालसा जग पड़ी है परंतु चाहे वे त्रिवेणी में गोता खावें, चाहे त्रिलोकी घूम आवें, चाहे उन पर न्यायालयों में घृणित से घृणित अभियोग लग जावें, वे तिलक की षोड़शी कला को भी नहीं पा सकते। वर्ष भर तक यार लोग चुप रहे। काशी में सामाजिक परिषद् की स्वागतकारिणी में सुधाकरजी और राममिश्रजी दो महामहोपाध्याय भी चुने गए, वर्ष भर कुछ विरोध नहीं किया। ये लोग भी ताने मारते अवसर तकते रहे। परंतु जब पंडित मालवीयजी के धर्ममहोत्सव का विज्ञापन निकला तो मनुष्य-दुर्बलता से सुलभ अभिमान जाग उठा और सामाजिक परिषद् का होना मालवीयजी के सिर रक्खा गया। क्या हिंदुओं में मालवीयजी का मान ऐसे कच्चे तागे पर है जो यों कम हो सकता है! माना कि सामाजिक परिषद् हिंदू सिद्धांतों की विधा तक और इसी लिये निष्फल भी है, परंतु उसके न कराने का यत्न क्या उस निंदनीय जलाने बहाने के ज्वर के समान

नहीं है जो डेढ़ दो वर्ष पहले हिंदी साहित्य पर पड़ा था ! यदि विरोधियों का उत्तर उनका मुँह बंद करना ही है तो क्यों "वंदे मातरम्" गाने की मनाई के लिये मि० फुलर का शासन बदनाम किया जाता है ? यह भी कथन विकृत है कि सामाजिक परिषद् के नेता "अपनी विकृत वासनाओं को पूरा करने के लिये अपने सुधार या दुर्धार चाहते हैं।" उद्देश्य में भेद हो चाहे न हो, काम के ज्ञान और मार्ग में भेद है, इसलिये वासनाएँ विकृत बताना बड़ी भारी भूल है। न्यायमूर्ति रानाडे या चंद्रावर्कर प्रभृति के व्यक्तिगत आचरण इतने उज्वल हैं कि छिद्रान्वेषी निगाह उनकी झलक से झँप जाती है और किसी भी समाज-सुधारक का चरित्र इतना कलुषित न होगा, जितना एक पंजाबी धर्म-व्यवसायी का, सच्चे झूठे, लोमहर्षण रीति से, प्रकट हुआ था ! परंतु स्वयं कुछ करना नहीं और और लोग अग्रसर हों तो सोश्यल कांफ्रेंस न रोकने का दोष उनके मत्थे ! खंडन करो, विरोध करो, परंतु स्थान मात्र पर से कांफ्रेंस को हटाकर क्या तुम तिलक बन सकते हो ?"

उनके संस्कृत-ज्ञान ने केवल शब्द के व्यावहारिक स्वरूपों और वाक्यों के सामूहिक विन्यास पर ही रंग नहीं जमाया है वरन् भाव-व्यंजना के उपयोग में भी उसी का बोलबाला है। इतिवृत्त के निवेदन में स्थान स्थान पर प्राचीन वैदिक एवं पौराणिक पदों और प्रमाणों का प्रयोग इन्होंने अधिक किया है। उनके इस प्रसंग-गर्भत्व का आनंद उस पाठक को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता जिसको उसके जड़ मूल का पता न हो। बात कहते कहते वे एक ऐसे विषय का वर्णन करेंगे जिसका सीधा संबंध नैयायिकों से होगा। इस रोचकता का महत्व वह पाठक कदापि न समझेगा जिसने न्याय शास्त्र का अध्ययन नहीं किया

अथवा उस संबंध-विशेष का उसे ज्ञान नहीं है। इसी प्रसंग-गर्भत्व को अँगरेजी भाषा में Allusiveness कहते हैं। जैसे—"यह उस देश में जहाँ कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़ बढ़कर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें—सौ बरस ही क्यों सौ बरस से भी अधिक। भला जिस देश में बरस में दो ही महीने घूम फिर सकते हों और समुद्र की मछलियाँ मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने के शीत और अँधियारे में क्या खायँगे, वहाँ जीवन से इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है—पर, जहाँ राम के राज में 'अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु' बिना खेती किए फसलें पक जायँ और पत्ते पत्ते में शहद मिले, वहाँ इतना वैराग्य क्यों?" लिखते लिखते यदि प्रसंग आया तो वे अपना वैदिक ज्ञान प्रकट करने में चूके नहीं। यहाँ तो प्रसंग के कारण एक विशेष अवांतर उपस्थित किया गया है! इस प्रकार के अवांतरों एवं प्रासंगिक कथाओं से उनके लेख भरे पड़े हैं। इनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि लेखक अध्ययन-शील तथा उदात्त पंडित है! पाठकों को यदि किसी स्थान पर इन अवांतरों के प्रासंगिक रूप का ज्ञान न हो सका तो लेख का वह भाग उनके लिये प्रायः निरर्थक ही समझना चाहिए। परंतु जिसने उसका वास्तविक प्रसंग-गर्भत्व समझा वह उसका पूर्ण आनंद भी उठाता है।

साहित्यिक एवं ऐतिहासिक लेखों के अतिरिक्त गुलेरीजी ने अनेक सामाजिक तथा आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं।

इन लेखों की भाषा-शैली सर्वथा भिन्न है। ऐसे लेखों के लिखते समय उनमें एक चुलबुलाहट विशेष दिखाई पड़ती थी। भाव-व्यंजना अत्यंत रोचक और आकर्षक, वाक्य-विन्यास में सरलता और संगठन, तथा शब्द-चयन में विशेष सतर्कता और सामयिकता दिखाई पड़ती है। इन स्थानों पर मुहावरों का इतना सुंदर निर्वाह मिलता है कि कहीं कहीं तो उनकी लड़ी सी गुथी दिखाई पड़ती है। इन्हीं मुहावरों पर सारा खेल आश्रित रहता है। भाषा के मुहावरेदार होने के अतिरिक्त वाक्यों का विस्तार इतना कम और इतना गठित रहता है कि उसमें एक मनोहर आकर्षण मिलता है। जैसे—'बकौल शेक्सपियर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है। आर्य-समाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया, औरों ने तो गाँठ का कुछ न दिया, इन्होंने अच्छे अच्छे शब्द छीन लिए। इसी से कहते हैं 'मारेसि मोहिं कुठाउँ'। अच्छे अच्छे पद तो यों सफाई से लिए हैं कि इस पुरानी जमी हुई दूकान का दिवाला निकल गया!! लेने के देने पड़ गए!!!"

उनकी इस भाषा-शैली में अकृत्रिम वैयक्तिकता है। प्रधानतः उनके सभी सामाजिक और आलोचनात्मक लेख इसी प्रकार की शैली में लिखे गए हैं। इन लेखों की भाषा स्पष्ट और मिश्रित है। वाक्य विस्तार में प्रायः छोटे हैं। कथन-प्रणाली अधिकांश भाग में रोचक, विनोदपूर्ण एवं व्यंग्य से आक्रांत रहती है। इन लेखों के आरंभिक भाग इस बात का प्रमाण देते हैं कि लेखक ने विषय को भली भाँति समझ लिया है

और कथन-आरंभ में विशेष विलंब नहीं लगाना चाहता। उनके आरंभ में विनोदपूर्णता रहती है और समस्त लेख में एक व्यंग्यपूर्ण ध्वनि निकलती ज्ञात होती है। मार्मिक स्थलों पर भावभंगी भी विशेष आकर्षक हो जाती है। जैसे—

"हम तो शिवदासजी गुप्त की इस नई खोज की प्रशंसा में मग्न हैं। क्या बात है! क्या बढ़के बात निकाली है! इधर हमारे हँसोड़ मित्र कह रहे हैं कि जालहंस-वालहंस कोई नहीं है—रोमन लिपि का चमत्कार है और संस्कृत-साहित्य न जाननेवालों की अँगरेजी या बँगला सूँघकर 'गवेषणापूर्ण' लेख लिखने की लालसा पूर्ण करके पाँचवें सवार बनने की धुन का परिहास मात्र दुष्परिणाम है। जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' प्रसिद्ध है। कवियों के समय निर्णय करने में बड़े काम की वस्तु है। अँगरेजी में रोमन लिपि में जल्हण की Jalhan's (षष्ठ्यंत प्रयोग) लिखा हुआ था और पादरी नोट्स साहब की दुलारी रोमन लिपि के तुफ़ैल से और संस्कृत की जानकारी न होने से जालहंस का जाल बिन जाने रचा गया। जैसे कि 'सोनगरा' राजपूतों का नाम कर्नल टाड के राजस्थान में पढ़कर बंगाली अनुवादक ने सौ नगरों के स्वामी क्षत्रियों का जाति-नाम न समझकर अँगरेजी अक्षर और बंगालियों के गोल गोल उच्चारण के भरोसे 'शनिग्रह' राजपूत कहकर अटकल लड़ाई कि सूर्य, चंद्रवंश की तरह 'शनिग्रह वंशी' राजपूत भी होंगे और मुरादाबादी अनुवादक ने भी हिंदी में बँगला की वही साढ़े साती शनिश्चर की दशा राजपूतों पर ला दी। वैसे ही लेखक के मानस में जालहंस की किलोलें आरंभ हो गईं!!"

रामचंद्र शुक्ल

जब हम आजकल के उत्कृष्ट निबंध-लेखक तथा आलोचनात्मक प्रणाली के उन्नायक पंडित रामचंद्र शुक्ल जी की भाषा-शैली का विवेचन करने बैठते हैं तब जर्मन आलोचक बफ़न के कथन—

Style is the man himself—शैली लेखक की वैयक्तिकता है—का स्वभावतः स्मरण हो आता है। शुक्लजी की व्यक्तिगत गंभीरता उनकी भाषा में व्याप्त रहती है। उनकी भाषा संयत, परिष्कृत, प्रौढ़ तथा विशुद्ध होती है, उसमें एक प्रकार का सौष्ठव विशेष है, जो संभवतः किसी भी वर्तमान लेखक में नहीं पाया जाता। उसमें गंभीर विवेचना, गवेषणात्मक चिंतन एवं निर्भ्रांत अनुभूति की पुष्ट व्यंजना सर्वदा वर्तमान रहती है। साधारण निबंध में, आलोचनात्मक तथा अन्य लेखों में जहाँ देखा जाय वहाँ कुछ चमत्कार विशेष पाया जाता है। कथन का यह चामत्कारिक ढंग शुक्लजी ही का है। उसमें उनकी वैयक्तिकता की गहरी छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। किसी स्थान से भी दस पाँच पंक्तियाँ निकालकर अन्यत्र रख दी जायँ तो वे पुकारकर कहेंगी कि ये उस प्रौढ़ लेखनी की रचनाएँ हैं जिसने हिंदी गद्य की व्यापक और प्रौढ़तम उत्कृष्टता का वर्तमान रूप एक निर्दिष्ट स्थान पर स्थिर कर दिया है।

शुक्लजी की शैली में वैयक्तिकता की छाप सर्वत्र ही प्राप्त होती है; चाहे वह निबंध-रचना हो चाहे आलोचनात्मक विवेचन। निबंधों में स्वच्छंदता का विशेष अवकाश होने के कारण भाव-व्यंजना भी सरल हुई है। उनमें अपेक्षाकृत वाक्य कुछ बड़े हुए हैं; भाषा अधिक चलती और व्यावहारिक हुई है। यों तो इनकी रचनाओं में धारा-प्रवाह कुछ कम रहता है, परन्तु निबंधों में इसका भी पूरा आनंद प्राप्त होता है। इस प्रकार की रचनाओं में विचार-शक्ति का अच्छा संघटन रहता है अतएव वाक्यों के रूप में बाहर जब इसका स्वरूप उपस्थित होता है तब उसमें आंतरिक और बाह्य भाव-

व्यंजना में एक वैचित्र्यपूर्ण सामंजस्य दिखाई पड़ता है। एक के उपरांत दूसरे विचार क्रमशः इस प्रकार व्यक्त होते जाते हैं कि धीरे धीरे विचारों की एक लड़ी बन जाती है। इन निबंधों में से यदि कोई एक वाक्य भी बीच में से निकाल लें तो समस्त भावमाला अस्तव्यस्त हो इधर उधर बिखर जायगी। इनकी रचना में शब्दाडंबर का नाम अथवा व्यर्थ के घुसेड़े हुए शब्द कदापि नहीं मिलेंगे। बिना आवश्यकता के वाक्य-पूरक "है" भी नहीं लिखा गया है। व्यर्थ के शब्दों को लिखना शुक्लजी की प्रकृति के विरुद्ध है। उनके विचार से थोड़े से थोड़े शब्दों में गंभीर से गंभीर भावावेश व्यक्त करना उचित है। भावों के साथ साथ वाक्य भी एक से एक नये रहते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में हमें वह दुरूहता नहीं मिलती जो शुक्लजी की गवेषणात्मक विवेचनाओं में बहुधा प्राप्त होती है। इनकी निबंध-रचना इस बात का द्योतन करती है कि व्यावहारिक, सरल और बोधगम्य भाषा में किस प्रकार मानुषिक जीवन से संबद्ध विषयों पर विचार प्रकट किए जाते हैं। मुहावरों का प्रयोग शुक्लजी ने अपनी इस प्रकार की रचनाओं में अवश्य किया है अतएव यह कथन कि "उनके लेखों की भाषा में कहावतों और मुहावरों का अभाव सा है" व्यापक नहीं माना जा सकता। हाँ,—यदि आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक प्रबंधों में ये बातें नहीं मिलतीं तो यह स्वाभाविक ही है; क्योंकि वहाँ भाषा की उछल कूद भावों की गंभीरता से आक्रांत रहती है। इसके अतिरिक्त लेखक को इन निबंधों के लिखते समय भी यदि इस बात की आशंका होती है कि बात भी सर्वथा स्पष्ट नहीं हुई तो वाक्य-

समूह के अंत में आकर वह "सारांश यह कि" लिखकर थोड़े में गुंफित विचारों को एकत्र कर देता है। जैसे—

"जिस समाज की हम बुराई करते हैं, जिस समाज में हम अपनी मूर्खता धृष्टता आदि का प्रमाण दे चुके रहते हैं, उसके अंग होने का स्वत्व हम जता नहीं सकते, अतः उसके सामने अपनी सजीवता के लक्षणों को उपस्थित करते या रखते नहीं बनता—यह प्रकट करते नहीं बनता कि हम भी इस संसार में हैं। जिसके साथ हमने कोई बुराई की होती है उसे देखते ही हमारी क्या दशा हो जाती है? हमारी चेष्टाएँ मंद पड़ जाती हैं, हमारे ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है, हम गड़ जाते हैं या चाहते हैं कि धरती फट जाती और हम उसमें समा जाते। सारांश यह कि यदि हम कुछ देर के लिये मर नहीं जाते तो कम से कम अपने जीने का प्रमाण अवश्य समेट लेते हैं।"

"यदि किसी भावी आपत्ति की सूचना पाकर कोई एकदम ठक हो जाय, कुछ भी हाथ पैर न हिलाए तो भी उसके दुःख को साधारण दुःख से अलग करके भय की संज्ञा दी जायगी। पर यदि किसी मित्र के आने की सूचना पाकर हम चुपचाप आनंदित होकर बैठे रहें या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठकर खड़े हो जायँगे, उससे मिलने के लिये चल पड़ेंगे और उसके ठहरने इत्यादि का प्रबंध करने के लिये प्रसन्नमुख इधर से उधर दौड़ते दिखाई देंगे।"

शुक्लजी ने अधिक मननशील साहित्य की उद्भावना की है। परंतु अपने गंभीर विषयों पर विवेचनात्मक रूप में लिखते लिखते यदि कहीं अवसर मिला है तो वे व्यंग्यात्मक छींटे अवश्य मारते गए हैं। दुरूह विवेचना के बीच बीच में इस प्रकार की

रचना, चमत्कार विशेष उत्पन्न करती है। जब कभी गंभीर विचारों से जी ऊब उठता है तब मन बहलाव की इच्छा का उदय स्वाभाविक ही है। इस प्रकार व्यंग्यात्मक छोटों के लिये इन्होंने उर्दू के शब्दों और मुहावरों का प्रायः आश्रय लिया है। इन उर्दू शब्दों का प्रयोग सदैव तत्सम रूप में ही हुआ है। बाबू श्यामसुंदरदासजी की भाँति शब्दों को अपनाने का विचार इनका नहीं ज्ञात होता। गवेषणात्मक प्रबंधों के बाहर तो इन्होंने उर्दू शब्दों का प्रयोग यथास्थान कुछ न कुछ अवश्य किया है अतएव यह कहना कि इनकी रचना में न्यूनातिन्यून प्रयोग हुआ है, केवल भ्रामक ज्ञात होता है; क्योंकि प्रयोग अवश्य हुआ है और अच्छी तरह हुआ है। इन्होंने हिंदी-साहित्य के इतिहास में "तारीफ़", "चीज़", "ज़रूरी", "मज़ाक़" इत्यादि चलते शब्दों का व्यवहार प्रचुर मात्रा में किया है। वहाँ की शैली अधिक व्यावहारिक और चलती हुई है क्योंकि उन्हें अपनी शैली अधिक बोधगम्य बनाने की लालसा थी। इसके अतिरिक्त वे उर्दू पदों का भी प्रयोग करते हैं; परंतु यह उन्हीं स्थानों पर जहाँ कुछ विनोदपूर्ण व्यंग्य अभिप्रेत होता है। इस प्रकार की रचना-प्रणाली में बड़ा सुंदर सौष्ठव दिखाई पड़ता है।

"हवा से लड़नेवाली स्त्रियां देखी नहीं तो कम से कम सुनी तो बहुतों ने होंगी चाहे उनकी ज़िंदःदिली की क़द्र न की हो।"

"एक बात ज़रा और खटकती है। वह है उनका भाषा के साथ मज़ाक़। कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक़ हुआ—उर्दू भी ऐसी वैसी नहीं उर्दू-ए-मुअल्ला। इसी शौक़ के कुछ आगे-पीछे इन्होंने राजा शिवप्रसाद का जीवन-चरित्र लिखा जो 'सरस्वती' के आरंभ

के तीन अंकों में निकला। उर्दू ज़बान और शेर सखुन की बेढंगी नक़ल से, जो असल से कभी कभी साफ़ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। ग़लत या ग़लत मानी में लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दर्जे से गिरा देते हैं। खैरियत यह हुई है कि अपने सब उपन्यासों को यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया है।"

इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर व्यंग्यात्मक दो एक वाक्य लिखकर अपनी धारणा व्यक्त करना ये भली भाँति जानते हैं। इस प्रकार के वाक्य जैसे चिकोटी काटते हों और उनमें एक चमत्कार अप्रत्यक्ष रूप में वर्तमान रहता है; जैसे—

"इसमें नायक को कहीं बाहर, वन, पर्वत आदि के बीच नहीं जाना पड़ा है। वह घर के भीतर ही लुकता, छिपता, चौकड़ी भरता दिखाया गया है।" "यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिये छुरी, हँसिया आदि की कोई ज़रूरत न होनी चाहिए।" अथवा—"बिहारी की नायिका जब साँस लेती है तब उसके साथ चार क़दम आगे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडुलम् की सी दशा उसकी रहती है।" "इसी प्रकार उर्दू के एक शायर साहब ने आशिक़ को जूँ या खटमल का बच्चा बना डाला।"

शुक्लजी के पूर्व वास्तव में आलोचनात्मक प्रबंध प्रायः कम लिखे गए थे। यदि लिखे भी गए थे तो भाव और भाषा दोनों के विचार से वे उत्कृष्ट नहीं कहे जा सकते। वास्तव में साहित्यालोचन की विश्लेषात्मक, परिपुष्ट एवं व्यापक परिपाटी इन्होंने आरंभ की। आरंभ करने में उतना बड़ा काम नहीं हुआ जितना कि उसके अनुकूल भाषा की उद्भावना में। इन्होंने आलोचनात्मक भाषा का केवल निर्माण ही

किया हो—यह बात भी नहीं है। इन्होंने उसकी सम्यक् व्यवस्था भी कर दी है। इस प्रकार की भाषा में इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि अब इस विषय के भी उत्तमोत्तम ग्रंथों का निर्माण हो सकता है। हिंदी-साहित्य में भी इस प्रकार की संयत और विशद विवेचना संभव है, इसका प्रमाण देते हुए जो इन्होंने एक प्रकार की शैली विशेष का रूप स्थिर किया है उसके लिये हिंदी भाषा सदैव इनकी कृतज्ञ रहेगी। इस प्रकार की रचनाओं की भाषा बड़ी ही सतर्क एवं प्रौढ़ हुई है। इसमें किसी विषय का कितना सुंदर तथा प्रभावात्मक विवेचन और प्रतिपादन हो सकता है, यह बात स्पष्ट प्रकट हो जाती है।

"लोक के मंगल की आशा से उनका हृदय परिपूर्ण और प्रफुल्ल था। इस आशा का आधार थी वह मंगलमयी ज्योति जो धर्म के रूप में जगत् की प्रातिभासिक सत्ता के भीतर आनंद का आभास देती है, और उसकी रक्षा द्वारा अपने सत् का—अपने नित्यत्व का—बोध कराती है। लोक की रक्षा "सत्" का आभास है, लोक का मंगल "परमानंद" का आभास है। इस व्यावहारिक सत् और आनंद का प्रतीक है 'राम-राज्य' जिसमें उस मर्यादा की पूर्ण प्रतिष्ठा है जिसके उल्लंघन से इस सत् और आनंद का आभास भी व्यवधान में पड़ जाता है। पर यह व्यवधान सब दिन नहीं रह सकता। अंत में सत् अपना प्रकाश करता है, इस बात का पूर्ण विश्वास तुलसीदासजी ने प्रकट किया है।"

"अतः केशव बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि का मिलान के लिये रखना उसका अपमान करना है। केशव में तो हृदय का पता ही नहीं है। वह प्रबंध-पटुता भी उनमें नाम को नहीं जिससे कथानक

का संबंध निर्वाह होता है। उनकी रामचंद्रिका फुटकर पद्यों का संग्रह मात्र जान पड़ती है। वीरसिंहदेवचरित से उन्होंने अपनी हृदय-हीनता की ही नहीं प्रबंध-रचना की भी पूरी असफलता दिखा दी है। बिहारी रीति-ग्रंथों के सहारे जबरदस्ती जगह निकाल निकालकर दोहों के भीतर शृंगार रस के विभाव अनुभाव और संचारी ही भरते रहे। केवल एक ही महात्मा और है जिसका नाम गोस्वामीजी के साथ लिया जा सकता है और लिया जाता है। वे हैं प्रेम-स्रोत-स्वरूप भक्तवर सूरदासजी। जब तक हिंदी-साहित्य और हिंदी-भाषी हैं तब तक सूर और तुलसी का जोड़ा अमर है। पर, जैसा दिखाया जा चुका है, भाव और भाषा दोनों के विचार से गोस्वामी जी का अधिकार अधिक विस्तृत है। न जाने किसने यमक के लोभ से यह दोहा कह डाला—

'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशव दास'।

यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सब से अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिंदी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कंठ, भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।"

ज्यों ज्यों साहित्य में नवीन विषयों का अध्ययन अध्यापन बढ़ता जायगा, त्यों त्यों नवीन प्रकार की रचनाओं की आवश्यकता बढ़ती जायगी। इन रचनाओं में नवीन भावनाओं और विचारों का खंडन मंडन रहेगा। अतएव शैली विशेष की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त नवीन शब्दों का भी निर्माण होगा। हिंदी साहित्य में अब नित्य नवीन विषयों की चर्चा बढ़ रही है। इस चर्चा के साथ ही साथ भाषा, शैली और शब्द-निर्माण पर भी ध्यान दिया जा रहा

है। कुछ लोग तो शब्द-निर्माण किसी निश्चित सिद्धांत के बिना ही करते हैं। वस्तुतः वे इसके अधिकारी नहीं होते। इस बात की चेष्टा करना या तो उनकी शक्ति से परे होता है अथवा केवल प्रमादवश इस विषय का विचार ही नहीं करते कि वास्तव में नवीन शब्द-रचना की कोई आवश्यकता है अथवा नहीं। जब तक अपनी भाषा में उसी का पर्याय अथवा उससे मिलता-जुलता कोई शब्द उपस्थित हो तब तक हमें नवीन शब्द गढ़ने की चेष्टा न करनी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से ये गढ़े हुए शब्द न तो निश्चित अर्थ ही बोधित कर सकेंगे और न व्यापक ही हो सकेंगे। एक नवीन जंतु की भाँति वे सम्मुख खड़े हो जायँगे। अतएव अधिक समीचीन यही है कि अपनी ही भाषा के प्राचीन भूले हुए शब्दों का पुनरुद्धार कर उन्हें पुनः व्यवहार-क्षेत्र में ले आवें। इस प्रकार हम अव्यावहारिकता से बचे रहेंगे और साथ ही अपनी प्राचीन भाषा का अपकार भी न करेंगे।

जिस प्रकार शुक्लजी ने अन्य विभागों में अपनी उद्भावना शक्ति का परिचय दिया है उसी प्रकार शब्द-निर्माण के संसार में भी वे प्रमुख बने हैं। इसका इन्हें कोई खास शौक नहीं; न तो कोई ऐसा व्यापक मर्ज ही है। परंतु उन्हें अपने विषय-साम्राज्य के विस्तार-भार से आक्रांत होकर विवश होना पड़ता है। ऐसी अवस्था में नवीन कल्पनाओं, नवीन शैली एवं शब्द-कोष की ढूँढ़ ढाँढ़ अनिवार्य हो जाती है। शुक्लजी ने अनेक शब्दों का निर्माण भी किया है; और साथ ही अनेक शब्दों का पुनरुद्धार भी। "विश्व-प्रपंच" की भूमिका में अनेक विज्ञानों और दर्शनों की चर्चा है जिनमें

बहुत से नवीन निर्मित शब्दों के अतिरिक्त अनेक पारिभाषिक शब्द भारतीय शास्त्रों से लेकर प्रयुक्त हुए हैं। उन्हें शब्द-निर्माण के अतिरिक्त नवीन विषयों के निदर्शन एवं प्रतिपादन के लिये एक शैली विशेष का स्वतंत्र रूप खड़ा करना पड़ा है। इस प्रकार भी शैली को हम शुद्ध गवेषणात्मक कह सकते हैं। इसमें भावों की दुरूहता के साथ ही साथ भाषा भी अपेक्षाकृत क्लिष्ट तथा गंभीर हो गई है।

"ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर (Static) सौंदर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं; गत्यात्मक (Dynamic) सौंदर्य और गत्यात्मक मंगल ही है; पर सौंदर्य की गति भी नित्य और अनंत है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। सौंदर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं। कलापक्ष से देखने में जो सौंदर्य है, वही धर्मपक्ष से देखने में मंगल है। जिस सामान्य काव्य भूमि पर प्राप्त होकर हमारे भाव एक साथ ही सुंदर और मंगलमय हो जाते हैं उसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। कवि मंगल का नाम न लेकर सौंदर्य ही का नाम लेता है और धार्मिक सौंदर्य की चर्चा बचाकर मंगल ही का जिक्र किया करता है। टाल्सटाय इस प्रवृत्ति-भेद को न पहचानकर काव्य क्षेत्र में लोक-मंगल का एकांत उद्देश्य रखकर चले इससे उनकी समीक्षाएँ गिरजाघर के उपदेश के रूप में हो गईं। मनुष्य मनुष्य में प्रेम और भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा ही काव्य का सीधा लक्ष्य ठहराने से उनकी दृष्टि बहुत संकुचित हो गई, जैसा कि उनकी सब से उत्तम ठहराई हुई पुस्तकों की विलक्षण सूची से विदित होता है। यदि टाल्सटाय की धर्म-भावना में व्यक्तिगत धर्म के अतिरिक्त लोकधर्म का भी समावेश होता तो शायद उनके कथन में इतना असामंजस्य न घटित होता।"

इस प्रकार हमने देख लिया कि शुक्लजी की भाषा सदैव भाव-निदर्शन के अनुरूप हुई है। जिस स्थान पर जैसा विषय था वैसी ही भाषा प्रयुक्त हुई है। ज्यों ज्यों विषय की गहनता और उत्कृष्टता उन्नति पाती गई है त्यों त्यों भाषा के रूप रंग में भी परिवर्तन होता गया है। भाषा और शैली को अपने भावानुकूल बना लेना बड़े दक्ष लेखक की प्रतिभा का काम है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात जो हम व्यापक रूप में पाते हैं वह यह है कि उनकी शैली से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक के एक एक वाक्य में भावनाओं का संसार अंतर्निहित है। वाक्य का एक भी शब्द व्यर्थ नहीं रखा गया है। इनकी भाषा बड़ी संगठित और प्रांजल हुई है; क्योंकि विचार उसमें कस कसकर परंतु स्पष्टता से भरे गए हैं। कहीं से लचरपन नहीं प्रकट होता। इन्हीं कारणों से जिस स्थान पर गवेषणापूर्ण विषय का प्रतिपादन हुआ है संभवतः कुछ अंशों में दुरूहता दिखाई पड़ती है। वाक्यों की साधारण बनावट में उन्होंने कहीं से विषमता नहीं उत्पन्न होने दी है—चाहे भाषा का धारावाहिक रूप कुछ बिगड़ ही क्यों न गया हो। यह सब होते हुए भी हम यह देख चुके हैं कि जितना प्रौढ़ उत्कर्ष, भाषा और भाव दोनों का, हमें इनमें मिला है किसी भी दूसरे लेखक में नहीं आ सका है।

पद्मसिंह शर्मा

पंडित पद्मसिंह शर्मा का तुलना करना, एक की विशेषता की परख दूसरे की विशेषताओं को दिखाकर करना यह प्रकट करता है कि लेखक का अधिकार सभी आलोच्य कवियों पर समान है। इस प्रकार तुलनात्मक आलोचना का जो आकर्षक रूप शर्माजी

ने हिंदी-साहित्य में उपस्थित किया है वह वस्तुत: नवीन और स्तुत्य है। स्तुत्य वह इस विचार से है कि उसने एक नवीन अनुभूति को लिखित रूप दिया है। इस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता थी। इसके उपस्थित होते ही अन्य सुंदर तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखी गईं। किसी विषय का आरंभ उद्भावना शक्ति का परिचायक होता है। इस विचार से शर्माजी का स्थान बड़े ही महत्व का समझना चाहिए।

जब हम उनकी आलोच्य पद्धति पर विचार करते हैं तब हमें उसमें वैयक्तिकता की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। उनकी आलोचनात्मक रचना में से यदि चार पंक्तियाँ भी निकालकर बाहर रख दी जायँ तो उनकी चटक-मटक डंके की चोट कहेगी कि वे शर्माजी की विभूति हैं। उनकी बनावट, उछल-कूद, लपक-झपक में भी कारीगरी छिपी रहती है। इस प्रकार की शैली भी अपने ढंग की निराली है। उर्दू हिंदी का इतना रुचिकर और अभिन्न सम्मिश्रण पहले नहीं दिखाई पड़ा था। उर्दू समाज की 'वल्लाह', 'वल्लाह', 'क्या ख़ूब', 'क्या ख़ूब' का आनंद अभी तक नहीं आया था। कथन का यह आकर्षक और उत्साहमय रूप कभी कभी बड़ा ही चमत्कारपूर्ण होता है। परंतु यह उर्दूवाला ढंग सब जगह अच्छा नहीं होता। इसका प्रभाव क्षणिक होता है। 'वाह', 'वाह' बाजी मार ले गए; 'ग़ज़ब कर दिया है' इत्यादि की चिल्ल-पों में आलोचना का सौम्य विवेचन बिगड़ जाता है। चमत्कारपूर्ण होते हुए भी वह प्रभावात्मक नहीं होता। इस विचार से शर्माजी की शैली तथ्यातथ्य-निरूपण के योग्य

कदापि नहीं मानी जा सकती। उसमें से एक अभद्र दुर्गंध निकलती है जो वास्तव में गंभीर आलोचनात्मक प्रबंधों के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। गवेषणात्मक अध्ययन के उपरांत इस प्रकार की उच्छृंखल भाषा में भावों की व्यंजना नहीं हो सकती। यदि हो भी तो वह अत्यंत अस्वाभाविक ही ठहरेगी। आलोचना का जो दिव्य रूप पंडित रामचंद्रजी की भाषा में देखा जाता है उसका एक अंश भी इसमें नहीं मिलता। आलोचना वस्तुतः मनन का विषय है। जो बात गंभीर मनन के उपरांत मुख से निकलेगी उसकी विचार-धारा संयत एवं विशुद्ध होगी तथा उसकी भाषा में स्थिरता और गंभीरता होगी। उस भाषा में लखनवी उछल-कूद और हाय तोबा का ज़िक्र तथा "तू तू", "मैं मैं" अवश्य अच्छी नहीं हो सकती है।

"बात बहुत साफ़ और सीधी है पर तो भी चमत्कार से ख़ाली नहीं, इसका बाँकपन चित में चुभता है। बहुत ही मधुर भाव है।

पर बिहारीलाल भी तो एक ही 'काइयाँ' ठहरे। वह कब चूकनेवाले हैं, पहलू बदलकर मज़मून को साफ़ ले ही तो उड़े।

'अजौं न आए सहज रँग, बिरह दूबरे गात'

वाह उस्ताद क्या कहने हैं। क्या सफ़ाई खेली है। काया ही पलट दी। कोई पहचान सकता है।"

"बात वही है, पर देखिए तो आलम ही निराला है। क्या तानकर 'शब्दवेधी' नावक का तीर मारा है। लुटा ही दिया। एक 'अनियारे'पन ने अबल कृष्ण पक्ष वाले सबको एक अनी की नोंक में बाँधकर एक ओर रख दिया। और वाह रे "चितवन"! तुम्हारी चित-

वन की ताब भला कौन ला सकता है। फिर 'सुंदरी' और 'तरुणि' में भी कहते हैं कुछ भेद है। एक (सुंदरी) वशीकरन का खजाना है तो दूसरी (तरुणि) खान है। और 'सुजान' तो फिर कविता की जान ही ठहरा'। इस एक पद पर तो एड़ी से चोटी तक सारी गाथा ही कुर्बान है।

'वह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।'

लोहे की यह जड़ लेखनी इसकी भला क्या दाद देगी। भावुक सहृदयों के वे हृदय ही कुछ इसकी दाद देंगे जो इसकी चोट से पड़े तड़पते होंगे।"

"इस प्रकार बिहारीलालजी इस मैदान में गाथाकार और केशव-दास दोनों से बहुत आगे बढ़ गए हैं। क्या अच्छा संस्कार किया है, मज़मून छीन लिया है।"

"कितनी मनोहर रचना है, कितना मधुर परिपाक है। इन शब्दों में जितना जादू भरा है, उतना और कहीं है? और जो 'हरि जीवन मूरि' ने तो बस जान ही डाल दी है, इस एक पद पर ही प्राकृत गाथा और पद्मावलि का पद्य, दोनों एक साथ कुर्बान कर देने लायक हैं।"

"बिहारी की सखी का परिहास बड़ा ही लाजवाब है, रसिक-मोहन सुनकर फड़क ही गए होंगे। इससे अच्छा, सच्चा, साफ़, सीधा और दिल में गुदगुदी पैदा करनेवाला मीठा मज़ाक साहित्य-संसार में शायद ही हो।"

इस प्रकार की आलोचना इस बात को स्पष्ट कह देती है कि आलोचक के हृदय में भावनाओं की स्वर्गीय अनुभूति कम है। वह केवल शब्द-विन्यास से अथवा हँसा खेलाकर पाठक-जगत् की तृप्ति करना चाहता है। सहृदयता की मार्मिक व्यंजना को यदि हम एक ओर रखकर साधारण दृष्टि

से विचार करते हैं तो शर्माजी की भाषा में हमें एक विचित्र विनोदात्मक रूप मिलता है। हिंदी उर्दू का यह सम्मिश्रित रूप हमें उनकी आलोचनात्मक विचार-धारा ही में नहीं वरन् अन्य प्रकार की रचनाओं में भी मिलता है। उसमें एक प्रकार की आनन्दमयी प्रतिभा रहती है। किस विषय को किस प्रकार कहकर जी बहलाना होता है यह इनसे सीखना चाहिए। इसमें किस प्रकार की भाषा का उपयोग हो इसका विचार इन्हीं से सुनिए—

"जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है इससे सुरुचि का संचार हो चुका। यह सहृदय समाज के हृदयों में घर कर चुकी। यह सूखी टहनी बहुत दिनों तक साहित्य-संसार में खड़ी न रह सकेगी। कोरे कामचलाऊ-पन के साथ भाषा में सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है। विषय की दृष्टि से न सही भाषा के महत्वों की दृष्टि से भी देखिए तो शृंगार रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है। यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो इस पुरानी काव्यवाटिका से—जिसे हज़ारों चतुर मालियों ने सैकड़ों वर्ष तक दिल के ख़ून से सींचा है—सदाबहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। काँटों के भय से रसिक भौंरा पुष्पों का प्रेम नहीं छोड़ बैठता, मकरंद के लिये मधुमक्षिकाओं को इस चमन में आना ही होगा; यदि वह इधर से मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के खयाल में स्वच्छ आकाश-पुष्पों की तलाश में भटकेंगी तो मधु की एक बूँद से भी भेंट न हो सकेगी। हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा-विज्ञान के लिये उसी प्रकार का विदेशी-साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नहीं अपने साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यों है?"

जिन स्थानों पर भावों का प्राबल्य होता है उन स्थानों पर स्वभावत: उनकी भाषा अधिक संयत एवं वाक्य-विन्यास अधिक प्रभावशाली होते हैं। इनके भाव-प्रकाशन में भी एक प्रकार का ओज रहता है। उससे यह समझ पड़ता है कि उनका प्रयत्न सदैव इस बात पर रहता है कि एक एक वाक्य तीर का काम करे। यही कारण है कि दुरूहता नहीं आने पाती। शर्माजी व्यंग्य का बड़ा ही सुंदर और आकर्षक उपयोग करते हैं। इन व्यंग्यों के लिये उन्हें शब्द भी अच्छे और मर्मस्पर्शी मिल जाते हैं। इनके व्यंग्यात्मक निबंधों को पढ़ने से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि लेखक मन में कुढ़ा है। इससे रचना में जान आ जाती है।

"हमारे हिंदी के नवीन कवियों की मति गति बिलकुल निराली है। वह कविता की गाड़ी के धुरे और पहिए भी बदल रहे हैं। अपने अद्भुत छकड़े के पीछे की ओर मरियल टट्टू जोतकर गंतव्य पथ पर पहुँचना चाहते हैं। प्राचीनों का कृतज्ञ होना तो दूर रहा, उनके कोसने में भी अपना गौरव समझा जाता है; प्राचीन शैली का अनुसरण तो एक ओर रहा, जान बूझकर अनुचित रीति से उसका व्यर्थ विरोध किया जाता है। भाषा, भाव और रीति में एकदम अराजकता की घोषणा की जा रही है। यह उन्नति का नहीं, मनोमुखरता का लक्षण है। इससे कविता का सुधार नहीं, संहार हो रहा है। सुधार उसी ढंग से होना चाहिए, जिसका निर्देश महाकवि हाली ने किया है और जिसके अनुसार उर्दू के नवीन कवियों ने अपनी कविता को सामयिकता के मनोहर साँचे में ढालकर सफलता प्राप्त की है।"

यों तो नाटकों के प्रणयन का प्रारंभ बाबू हरिश्चंद्र के काल से ही हो गया था, परंतु उस काल के नाटकों में न

तो वैसे ऊँचे विचारों का भावावेश ही था और न मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण ही। इसके अतिरिक्त वस्तु-संकलन भी साधारण होता था। उसमें न तो विचित्रता ही रहती थी न नवीनता ही। इधर

जयशंकर प्रसाद

जब से बाबू जयशंकर प्रसाद ने नाटक-रचना प्रारंभ की तब से नाट्य-जगत् में एक नवीन युग प्रारंभ हो गया है। इनके नाटक भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता का चित्र सम्मुख उपस्थित करते हैं। उनमें चरित्र चित्रण का उत्कृष्ट विधान मिलता है, मानवी हृदय की अनेक भावनाओं का सुंदर विवरण और सामयिक प्रगति का अच्छा चित्र मिलता है। इन नाटकों की भाषा भी वस्तु के अनुकूल ही है। इसमें न तो उर्दू की शब्दावली ही मिलती है, न शैली ही। साथ ही हम यह भी नहीं कह सकते कि संस्कृत की दुरूह तत्सम पदावली का ही उपयोग किया गया है। साधारणतः भाषा चलती और विशुद्ध हुई है।

कथोपकथन की शैली अधिकतर मनोवैज्ञानिक हुई है। जिस प्रकार क्रमशः भावावेश बढ़ता जाता है उसी प्रकार भाषा भी धारावाहिक होती गई है और जिस भाँति के विचार हैं उसी प्रकार की कर्कश एवं मधुर भाषा का प्रयोग देखा जाता है। जैसे—"मनसा, मैं जाती हूँ। वासुकि से कह देना कि यादवी सरमा अपने पुत्र को साथ ले गई। मैं अपने सहजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी, किंतु इन हृदय-हीन उद्दण्ड बर्बरों का सिंहासन भी पैरों से ठुकरा दूँगी।" अथवा "माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मुझे आज्ञा दो। मैं मनसा के हाथों का

विषाक्त अस्त्र बनूँ; उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का तांडव किए बिना मैं न जी सकूँगा। मैं आत्मघात कर लूँगा।" इत्यादि। ऐसे भावात्मक कथन में स्वभावत: वाक्य छोटे छोटे हुए हैं। इनसे भावों की परिपक्वता एवं दृढ़ता उद्बोधित होती है। 'प्रसाद' जी की रचनाओं में प्राय: मुहावरों की न्यूनता पाई जाती है, परंतु भाषा और भाव-व्यंजना में लचरपन नहीं आने पाया है। वस्तुत: उन लेखकों को मुहावरों और कहावतों की आवश्यकता पड़ती भी नहीं, जिनका ध्यान अधिकतर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर रहता है।

भाषा-सौष्ठव का जितना परिष्कृत रूप हमें 'प्रसाद' जी की रचना में प्राप्त होता है वह स्तुत्य है। इस सौष्ठव में मनोहरता रहती है और प्रसाद गुण का चामत्कारिक उपयोग दिखाई पड़ता है। यों तो धाराप्रवाह सभी स्थानों पर मिलता है; परंतु विशेषत: उन स्थानों पर जहाँ भावावेश रहता है। हृदय में जिस समय भावनाओं का वेग बढ़ जाता है उस समय शीघ्रता से उनका शाब्दिक स्वरूप ग्रहण करना कठिन हो जाता है। इस अवसर पर यदि लेखक सिद्धहस्त न हो तो उनके प्रकाशन में दुरूहता उत्पन्न हो जाती है। इस दुरूहता का किञ्चित् मात्र भी प्रभाव 'प्रसाद' जी की व्यंजना में न प्राप्त होगा। वरन् ऐसे स्थानों पर वे छोटे छोटे वाक्यों द्वारा और शिष्ट एवं सुंदर पदावली का आश्रय लेकर बड़ा रोचक विवरण देते हैं। एक एक वाक्य का जोड़ तोड़ इतना अच्छा चलता है कि भाषा में जान पड़ जाती है। एक वाक्य दूसरे वाक्य को सहायता

देने में सदैव तत्पर पाया जाता है। इससे धारा-प्रवाह का मनोहर निर्वहन होता है। जैसे—

"(आप ही आप) बुलाओ, बुलाओ, उस वसंत को, उस जंगली वसंत को, जो महलों में, मन को उदास कर देता है, जो मन में फूलों के महल बना देता है, जो सूखे हृदय की धूलि में मकरंद सींचता है। उसे अपने हृदय में बुलाओ, जो पतझड़ कर नई कोपल लाता है, जो हमारे कई जन्मों की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रांत जगत् में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल की तरह सस्नेह रुक रुक आवाहन करता है, जिसमें विश्व भर के सम्मिलन का उल्लास स्वतः उत्पन्न होता है, एक आकर्षण सबको कलेजे से लगाना चाहता है, उस वसंत को, उस गई हुई निधि को लौटा लो। काँटों में फूल खिलें, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेले। विश्वमात्र एक कुसुम-स्तवक के सदृश किसी निष्काम के करों में अर्पित हो। आनंद का रसीला राग विस्मृति को भुला दे; सब में समता की ध्वनि गूँज उठे। विश्व भर का क्रंदन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय। आम के बौरों में से मकरंद-मदिरा पान करके आया हुआ पवन सब के तप्त अंगों को शीतल करे।"

'प्रसाद' जी ने भाव-पद्धति के निदर्शन का एक चामत्कारिक रूप खड़ा किया है। इस विचार से इनका स्थान भी महत्त्व का है। इन्होंने छोटी छोटी कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियों की भावभंगी निराली होती है। उनमें चमत्कार विशेष रहता है। इनके शीर्षक भी कुछ विलक्षण एवं नवीन होते हैं। यह विलक्षणता प्रायः इनकी सभी रचनाओं में मिलती है। कहानियों के भीतर इनका विषय-निर्वाचन, शब्द-चयन एवं गठन, तथा वाक्य-

विन्यास इत्यादि सभी उपादान आ जाते हैं। इन कहानियों के शीर्षक 'आकाशदीप,' 'स्वर्ग के खँडहर में,' 'सुनहला साँप,' 'रूप की छाया', 'प्रणयचिह्न', 'प्रतिध्वनि', 'हिमालय का पथिक', 'बनजारा' इत्यादि हैं, जिनमें सहसा चमत्कार का आभास मिलता है। शब्द-चयन के लाक्षणिक प्रयोग अधिकतर मिलते हैं। इनसे व्यंग्यात्मक ध्वनि निकलती है। उनके सहारे पाठक मानों इस स्थूल जगत् से कल्पना के स्वर्ग में जा पहुँचता है। इस कौशल से लेखक पाठक-जगत् को उस स्वर्गीय विभूति की अनुभूति स्वभावतः करा देता है जिसका वह चित्र खींचना चाहता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसका वस्तु-समीक्षण अशक्त रह जाय। "स्वप्न की रंगीन संध्या" तथा "स्वर्ण रहस्य के प्रभात" का आभास यदि वह न दे चुका रहेगा तो हम उसके स्वर्ग का यौवनपूर्ण उन्माद सहन न कर सकेंगे। उसकी "वन्य-कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकंपित होकर चारों ओर झूल रही थीं। छोटे छोटे झरनों की कुलाएँ कतराती हुई बह रही थीं। लता-वितानों से ढकी प्राकृतिक गुफाएँ शिल्प-रचना-पूर्ण सुंदर प्रकोष्ठ बनातीं, जिनमें पागल कर देनेवाली सुगंध की लहरें नृत्य करती थीं। स्थान स्थान पर कुंजों और पुष्प-शय्याओं का समारोह, छोटे छोटे विश्राम-गृह, पान-पात्रों में सुगंधित मदिरा, भाँति भाँति के सुस्वादु फल, फूलवाले वृक्षों के झुरमुट, दूध और मधु की नहरों के किनारे गुलाबी बादलों का क्षणिक विश्राम, चाँदनी का निभृत रंग-मंच, पुलकित वृक्ष-फूलों पर मधु-मक्खियों की भन्नाहट, रह रह कर पक्षियों के हृदय में चुभनेवाली तानें, मणि-दीपों पर

लटकती हुई मालाएँ; तिसपर सौंदर्य के छँटे हुए जोड़े—रूप-वान बालक और बालिकाओं का हास-विलास, संगीत की अबाध गति में छोटी-छोटी नावों पर उनका जल-विलास !" आदि वाक्यावली को हम मृत्यु-लोक-निवासी किस प्रकार समझ सकेंगे।

इस चमत्कारवाद में एक बात और भी है। वह यह कि पाठक-वर्ग का चित्त शीघ्र अपने कथानक की ओर खींचने के लिये लेखक सदैव सतर्क दिखाई पड़ता है। यह अवतरण इस प्रकार का साक्षी है। इसी प्रकार का चमत्कारपूर्ण समारंभ 'प्रसाद' जी सदैव अपनी रचनाओं में रखते हैं। पाठक के हृदय पर इसका बड़ा मार्मिक प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार का वर्णनीय विषय हो उसी प्रकार का आरंभ होने से उसको अनुकूल हृदय उपस्थित करने का अच्छा अवसर मिल जाता है। यही कारण है कि कुशल नाट्यकार सदैव प्रभावात्मक समारंभ का आयोजन आवश्यक समझते हैं। इससे इधर-उधर अव्यवस्थित चित्त एकाग्र हो जाता है। इस चमत्कारवाद में विशेषता यह रहती है कि लेखक सदैव वास्तविकता (Realism) की ओर भी झुका रहता है। इस झुकाव का प्रभाव उसके कथनोपकथन के वाक्य-विन्यास पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। साधारणतः नित्य के व्यवहार में हम जिस प्रकार वाक्यों का उपयोग करते हैं अथवा बातचीत की झोंक में जिस भाँति हम वाक्यों की बनावट में उलट फेर कर देते हैं उसी प्रकार 'प्रसाद' जी अथवा इस दल के सभी लेखक वास्तविकता का शुद्ध आभास देने के विचार से प्रायः वाक्य की स्वाभाविक

बनावट में उलट-फेर कर देते हैं। जैसे—"दुर्दांत दस्यु ने देखा, अपनी प्रतिभा में अलौकिक एक तरुण बालिका!" "चलोगी चंपा! पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राज-रानी सी जन्मभूमि के अंक में?" "प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिये और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिये।" "इतने में ध्यान आया, उस धीवर-बालिका का" इस प्रकार का नाट्यात्मक कथनोपकथन स्थान-स्थान पर उनकी छोटी-छोटी कहानियों में भी रहता है।

इतिवृत्त का विधान ये बड़ी रुचिकर विधि से करते हैं। उसमें सजीवता के अतिरिक्त बड़ा सुंदर धारा-प्रवाह रहता है। कथनोपकथन और मानसिक चिंतन में तो प्रवाह का निर्वाह अवश्य ही हुआ है। साथ ही इतिवृत्त के विवरण में भी उसका तारतम्य बड़ी उत्कृष्टता से प्राप्त होता है। ऐसे स्थानों पर प्रत्येक वाक्य में कर्ता स्पष्ट नहीं लिखा गया। उसका अध्याहार मन में स्वभावतः उपस्थित रहता है। यदि ऐसा न किया जाय तो विवरण धारा-वाहिक तो होगा ही नहीं वरन् समस्त वाक्य-समूह में रुकावट सी पड़ जायगी, जिससे वाक्य की सरसता नष्ट हो जायगी। इस रूखेपन अथवा विशृंखलता से भाषा का सौष्ठव तो नष्ट हो ही जायगा, इसके अतिरिक्त भाव-व्यंजना की सम्यक् अनुभूति भी न हो सकेगी। प्रसादजी की सभी रचनाओं में इस प्रवाह का आनंद मिलता है। इस शैली के प्रवाह के साथ साथ भावनाओं का चित्र सा उपस्थित हो जाता है। इस चित्र में मार्मिकता तथा सजीवता रहती है। जैसे—

"सुदर्शन ने देखा सब सुंदर है। आज तक जो प्रकृति उदास चित्र बनाकर सामने आती थी, उसके मोहिनी और मधुर सौंदर्य की विभूति को देखकर सुदर्शन की तन्मयता उत्कंठा में बदल गई। उसे उन्माद ले चला। इच्छा होती थी कि वह समुद्र बन जाय। उसकी उद्वेलित लहरों से चंद्रमा की किरनें खेलें और हँसा करें। इतने में ध्यान आया उस धीवर की बालिका का। इच्छा हुई वह भी वरुण कन्या सी चंद्र-किरणों से लिपटी हुई उसके विशाल वक्षःस्थल में विहार करे। उसकी आँखों में गोल धवल पालवाली नाव समा गई, कानों में अस्फुट संगीत भर गया। सुदर्शन उन्मत्त था। कुछ पद-शब्द सुनाई पड़े। उसे ध्यान आया मुझे लौटा ले जाने के लिये कुछ लोग आ रहे हैं। वह चंचल हो उठा। फेनिल जलधि में फाँद पड़ा। लहरों में तैर चला।"

कितना स्वाभाविक और वास्तविक भावावेश है। यही कारण है कि भाषा भी स्वाभाविक और चलती हुई है। इसके अतिरिक्त उसमें काव्य का प्रौढ़तम उन्माद है। लेखक गद्य में पद्य की अनुभूति कराता है।

इसके अतिरिक्त उन स्थानों पर भी—जहाँ इतिवृत्त में भावावेश का प्रसार तनिक भी नहीं सम्मिलित रहता—व्यंजनात्मक अनोखापन उपस्थित रहता है। वाक्य-विन्यास सरल तथा स्पष्ट होते हैं। भाषा अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक, एवं वाक्य-विस्तार अत्यंत संकुचित होता है। प्रत्येक वाक्य में कर्ता की आवश्यकता नहीं पड़ती। सर्वनाम आदि भी विशेष प्रयोजनीय नहीं समझा जाता। इन विचित्रताओं के रहते हुए भी इतिवृत्तात्मक-कथन की सत्यता प्रमाणित की जाती है—
"पहाड़ जैसे दिन बीतते ही न थे। दुख की सब रातें जाड़े की

रात से भी लंबी बन जाती हैं। दुखिया तारा की अवस्था शोचनीय थी। मानसिक और आर्थिक चिंताओं से वह जर्जर हो गई। गर्भ के बढ़ने से शरीर से भी कृश हो गई। मुख पीला हो चला। अब उसने उपवन में रहना छोड़ दिया, चाची के घर में जाकर रहने लगी। वहीं सहारा मिला। खर्च न चल सकने के कारण वह दो चार दिन बाद एक वस्तु बेचती, फिर रोकर दिन काटती। चाची ने भी उसे अपने ढंग पर छोड़ दिया। वहीं तारा टूटी चारपाई पर पड़ी कराहा करती।"

जिस प्रकार नाट्यरचना में हम बाबू जयशंकर प्रसाद को पाते हैं उसी प्रकार उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंद्रजी की उत्कृष्टता है। यों तो उपन्यास-रचना बाबू हरिश्चंद्र ही के समय से आरंभ हो गई थी, किंतु वह केवल समारंभ कहा जा सकता है; क्योंकि उस समय तक न तो भाषा में परिपक्वता आई थी और न मनोवैज्ञानिक रीति से भाव-व्यंजना की ही उद्भावना हुई थी। जो अवस्था नाटकों की थी वही उपन्यासों की भी थी। अब उपन्यासों में भी मनोवैज्ञानिक भाव-व्यंजना के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण आदि की ओर भी लोगों का ध्यान गया है। इसका समस्त श्रेय इसी मौलिक उपन्यास-लेखक को दिया जा सकता है। इनकी कृतियों में वस्तु, भावावेश, भाषा, चरित्र-चित्रण और कथोपकथन सभी की प्रौढ़ता है। इस विचार से ये हिंदी-साहित्य में प्रथम उत्कृष्ट मौलिक उपन्यासकार हैं। "मनुष्य की अंतःप्रकृति का जो विश्लेषण और वस्तु-विन्यास की जो अकृत्रिमता इनके उपन्यासों में मिली, वह पहले और किसी मौलिक उपन्यासकार में नहीं पाई गई थी।"

प्रेमचंद्र जी

पर इनकी साहित्य-रचना का प्रारंभिक काल बड़ा चिंता-जनक था। यों तो कुछ विचित्रताएँ उसी रूप में चली आती हैं, परंतु वे नहीं के बराबर हैं। जिस समय इन्होंने छोटी-छोटी कहानियाँ लिखना प्रारंभ किया था उस समय भाषा का लचरपन और भाव-शोधन का अभाव तो था ही, इसके अतिरिक्त ये व्याकरण की सामान्य भूलें भी करते थे। प्रांतीयता का भद्दा स्वरूप भी स्थान स्थान पर मिलता था। "वे...... समझे कोई यात्री होगा।" "कल नहीं पढ़ता था," "कुँवर और कुँवरियाँ," "चौकीदार और लौंडियाँ सब सिर नीचे किए दुर्ग के स्वामी के सामने उपस्थित थे।" "कस्बे के लड़के लड़कियाँ स्वेत थालियों में दीपक लिए मंदिर की ओर जा रहे थे।" "अंधकार में उसी अंधकार ने उसी विशाल भवन में शरण लिया था।" "वह उसे समझाते।" "मैं जवाब देते हैं।" "मनसा, वाचा, कर्मणा से सिर झुकाया।" "एकत्रित" (एकत्र), "देशहितैषिता के उमंग से", "हम लोगों से जो भूल-चूक हुई वह क्षमा किया जाय।" इत्यादि। इसके अतिरिक्त ये कुछ अव्यवस्थित, अप्रयुक्त, एवं प्राचीन शब्दों का भी स्वतंत्रता से व्यवहार करते थे। जैसे, "फुरता फुरती," "ढकोसला", "निरंग", "डोली", "झँक नैत", "रवादार", "सपृधारा", "गुजरान", 'अबके', इत्यादि। 'शांत' के स्थान पर अधिकतर "शांति" लिखते थे। विरामादिक चिह्नों का उपयुक्त प्रयोग नहीं समझते थे। जिस स्थान पर अर्ध-विराम नहीं भी चाहिए, वहाँ भी अर्ध-विराम लिख देते थे। जैसे—"विनय किए, हजारों खुशामदें कीं, खानसामों की झिड़कियाँ. सहीं।" बिना बात समाप्त

किए ही विराम का चिह्न दे बैठते थे। जैसे—"जिस भाँति सितार की ध्वनि गगन मंडल में प्रतिध्वनित हो रही थी। उसी भाँति प्रभा के हृदय में लहरों की हिलोरें उठ रही थीं।" इस प्रकार के अनेक अवतरण उपस्थित किए जा सकते हैं। 'ही' का प्रयोग भी सदैव अनुचित हुआ है। इससे कभी कभी अर्थ-बोध में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। "ये सब काँटे मैंने बोए ही हैं,"—वस्तुतः लेख का अभिप्राय यहाँ पर उस अर्थ से है जो 'ही' को "मैंने" के उपरांत रखने से निकलता है 'सम्मुख' को ये सदैव 'सन्मुख' लिखते थे। इन त्रुटियों के रहते हुए भी मुहावरेदानी गजब की होती थी। उर्दू में हाथ मजे रहने के कारण इन्होंने मुहावरों का बड़ा उपयुक्त उपयोग किया है। कहीं-कहीं तो इन्होंने मुहावरों की झड़ी लगा दी है। लगातार मुहावरों से ही वाक्य पूरे होते गए हैं। "उस समय गिरधारीलाल का चेहरा देखने योग्य होगा। मुँह का रंग बदल जायगा, हवाइयाँ उड़ने लगेंगी, आँखें न मिला सकेगा। शायद मुझे फिर मुँह न दिखा सके।" इत्यादि।

प्रेमचंद्रजी की आरंभिक रचनाओं में प्रौढ़ता न थी। उन कृतियों को देखकर यह आशा नहीं की जा सकती थी कि कुछ ही दिनों में उनमें आकाश-पाताल का अंतर हो जायगा। इस समय न तो उनकी भाषा ही संयत होती थी और न भावना ही। वाक्यों की छोटाई पर ध्यान देने से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि वे इसलिये छोटे नहीं होते थे कि भाव अधिक स्पष्ट हों वरन् वे लेखक की भीरुता के कारण ऐसे लिखे जाते थे। उस समय ये बड़े-बड़े वाक्यों के संबंध-क्रम का निर्वाह ही नहीं

कर सकते थे। यही कारण है कि भाषा में शिथिलता उत्पन्न हो गई है। एक-एक वाक्य में भाव टुकड़े-टुकड़े होकर रखे मिलते हैं। वाक्य-समूह असंबद्ध और धारा-प्रवाह छिन्न-भिन्न होता था। इनके मुहावरों के सुंदर प्रयोग से भले ही सजीवता उत्पन्न हो जाती रही हो, परंतु इनकी लेख-चातुरी की सराहना कदापि नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त उस समय की लिखी कहानियों में भावना का प्रौढ़ प्रसार भी नहीं मिलता। भाव-व्यंजना में अपरिपक्वता स्पष्ट झलकती है। चरित्र-चित्रण में भी वह मनोवैज्ञानिक विवेचन और उत्थान-पतन न मिलेगा, जो आज स्वाभाविक सा दिखाई पड़ता है। संस्कृत तत्समता का बनावटी प्रयोग यह दिखाता था कि एक मौलवी, पंडित बनना चाहता है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि उनके संस्कृत शब्दों के प्रयोग में अपनापन न था। भाषा साधारणतः उखड़ी मालूम पड़ती थी। उस समय की एक कहानी का छोटा सा अवतरण देखिए—

"हमारे पहलवानों में वैसा कोई नहीं है, जो उससे बाजी ले जाय। मालदेव की हार ने बुँदेलों की हिम्मत तोड़ दी है। आज सारे शहर में शोक छाया हुआ है। सैकड़ों घरों में आग नहीं जली। चिराग़ रोशन नहीं हुआ। हमारे देश और जाति की वह चीज़ अब अंतिम स्वास ले रही है, जिससे हमारा मान था। मालदेव हमारा उस्ताद था। उसके हार चुकने के बाद मेरा मैदान में आना धृष्टता है। पर बुँदेलों की साख जाती है तो मेरा सिर भी उसके साथ जायगा। कादिर ख़ाँ बेशक अपने हुनर में एक ही है, पर मेरा मालदेव कभी उससे कम नहीं। उसकी तलवार यदि उसके हाथ में होती तो मैदान ज़रूर उसके हाथ रहता। ओरछे में केवल एक तल-

वार है जो कादिर खाँ की तलवार का मुँह मोड़ सकती है। वह भैया की तलवार है। अगर तुम ओरछे की नाक रखना चाहती हो तो उसे मुझे दे दो। यह हमारी अंतिम चेष्टा होगी। यदि अबके हार हुई तो ओरछे का नाम सदैव के लिये डूब जायगा।"

क्रमशः इन त्रुटियों का परिमार्जन होता गया। भाव-व्यंजना का जो प्रौढ़ रूप इनकी रचना में आज दिखाई देता है वह कुछ ही काल पूर्व इस प्रकार का था यह आश्चर्य-जनक है। इस प्रकार की आध्यवसायिक उन्नति देखने में कम आती है। उनकी उस समय की त्रुटियाँ संस्कारजन्य थीं अतएव आज भी उनका कुछ न कुछ आभास मिलता ही है। पर वे विशेष खटकती नहीं। उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में चमत्कार का विशेष उपयोग नहीं किया। इनका आरंभ सदैव इतिवृत्तात्मक कथानक से होता है। जिस नवीनता एवं चमत्कार का दर्शन हमें 'प्रसाद' जी की रचनाओं में हो चुका है ठीक उसके विपरीत इनकी रचना में मिलता है। इनकी भाव-व्यंजना में काव्य-कल्पना का उल्लास दिखाई पड़ता है; पर इनकी रचना मृत्यु-लोक की व्यावहारिक सत्ता का चित्र है। उनकी भाषा में उन्मुक्त उन्माद एवं विशुद्धता दिखाई पड़ती है; परंतु इनकी शैली में भाषा का व्यावहारिक चलतापन विशेष उल्लेखनीय है। उनके कथानक का समारंभ कुतूहल और चमत्कार के साथ स्वाभाविकता का आधार लेकर उत्पन्न होता है और इनका जगत् की स्थूल-विवेचना एवं नित्य की अनुभूतियों के आश्रय पर खड़ा होता है। एक स्वर्ग का आह्लादपूर्ण यौवन है और दूसरा हमारे साथ दिन रात रहनेवाला मृत्यु-लोक

का सहचर। एक में हम प्रकृति का मनोरम शृंगार पाते हैं; दूसरे में मानव-जीवन की सहचरी समीक्षा। एक हमें स्वर्गीय मधुरता का प्रतिबिंब दिखाता है और दूसरा वास्तविक संसार का चित्र।

इनकी शैली का विवेचन करते समय एक बात स्पष्ट सामने आती है, वह यह कि अपने विचारों को स्थूल बनाने के लिये इन्होंने सदैव 'जैसे', 'तैसे', 'मानो', का प्रयोग किया है। इससे इनका तात्पर्य केवल कथित विषय को अधिक बोधगम्य बनाने की चेष्टा ही ज्ञात होता है। कहीं कहीं तो यह अत्यंत स्वाभाविक और उपयुक्त प्रतीत होता है। इससे भाव-व्यंजना अधिक सुंदर हो गई है। परंतु अनेक स्थानों पर अस्वाभाविक एवं अप्रयोजनीय भी ज्ञात होता है। इस आलंकारिक पद्धति का अनुसरण करने में यही तो अड़चन उपस्थित होती है कि यदि वह वास्तविकता का सीमोल्लंघन कर गई तो सुंदर के स्थान पर भयंकर ही नहीं वरन् अरुचिकर भी हो जाती है। जैसे—"व्याकुल हो गई—जैसे दीपक को देखकर पतंग; वह अधीर हो उठी जैसे खाँड़ की गंध पाकर चींटी। वह उठी और द्वारपालों, चौकीदारों, की दृष्टियाँ बचाती हुई राजमहल के बाहर निकल आई—जैसे वेदना-पूर्ण क्रंदन सुनकर आँसू निकल आते हैं।" "जैसे चाँदनी के प्रकाश में तारागण की ज्योति मलिन पड़ गई थी, उसी प्रकार उसके हृदय में चंद्ररूपी सुविचार ने विकार रूपी तारागण को ज्योतिर्हीन कर दिया था।" "जिस प्रकार अरुण का उदय होते ही पक्षी कलरव करने लगते हैं और बछड़े किलोलों में मग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार सुमन के मन

में भी क्रीड़ा करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई।" "जब युवती चली गई तो सुभद्रा फूट-फूटकर रोने लगी। ऐसा जान पड़ता था मानों देह में रक्त ही नहीं, मानो प्राण निकल गए हैं। वह कितनी निःसहाय, कितनी दुर्बल, इसका आज अनुभव हुआ। ऐसा मालूम हुआ मानो संसार में उसका कोई नहीं है। अब उसका जीवन व्यर्थ है। उसके लिये अब जीवन में रोने के सिवा और क्या है। उसकी सारी ज्ञानेंद्रियाँ शिथिल सी हो गई थीं मानो वह किसी ऊँचे वृक्ष से गिर पड़ी हो।" "जैसे सुंदर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है और सुंदर रंगों से चित्र में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आ जाने से झोपड़े में जान आ गई। अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गई हैं। मुरझाई हुई कली शांता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है। जैसे जेठ-वैसाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गई है।"

कथोपकथन के तारतम्य में इस बात की बड़ी आवश्यकता होती है कि उस समय की वाक्य-योजना में वह स्वाभाविक भावभंगी हो जो वस्तुतः नित्य के व्यवहार में प्राप्त होती है। बातचीत में प्रायः वाक्य का शुद्ध क्रम नहीं रह जाता। जैसे "आप जाइए, आपको क्या पड़ी है।" को साधारण कथोपकथन में कहा जायगा—"आइए आप। क्या पड़ी है आपको।" इसी कारण वास्तविकतावादी अधिकतर नाट्य- शाली का अनुसरण करते हैं। इस नाट्य-प्रणाली

का अनुसरण 'प्रेमचंद' में नहीं प्राप्त होता। वे सीधे-सीधे व्याकरण के निश्चित मार्ग का अवलंबन समीचीन समझते हैं। इससे कथोपकथन की भाषा शिथिल सी हो गई है। जिन स्थानों पर इन्होंने इस नाट्य-प्रणाली का अनुसरण किया है, वहाँ पर जीवन आ गया है, परंतु ऐसे स्थल न्यूनातिन्यून हैं। 'मानो उसका कोई है ही नहीं संसार में' न लिख वे सदैव सीधा-सीधा रूप "मानो संसार में उसका कोई नहीं है" लिखते हैं। "युक्ति कोई ऐसी बताइए कि कोई अवसर पड़े तो मैं साफ़ निकल जाऊँ" ही लिखेंगे। इस प्रकार नाटकोपयोगी कथोपकथन प्रेमचंद्र की रचना में अधिक न मिलेगा। कहीं-कहीं जहाँ हृदय की धधकती अग्नि बाहर निकलने की चेष्टा करती है; अथवा जहाँ हृदय से, अधिक दिनों के संचित उद्गार, वायु के प्रबल वेग की भाँति निकलना चाहते हैं वहाँ भाषा भी स्वभावतः संयत और भावुक हो गई है। पर ऐसे स्थान हैं बहुत थोड़े। जैसे—"सुमन ने आँखें खोलीं और उन्मत्तों की भाँति विस्मित-नेत्रों से शांता की ओर देखकर बोली, कौन शांति? तू हट जा, मुझे मत छू, मैं पापिनी हूँ, मैं अभागिनी हूँ, मैं भ्रष्टा हूँ, तू देवी है, तू साध्वी है, मुझसे अपने को स्पर्श न होने दे, इस हृदय को वासनाओं ने, लालसाओं ने, दुष्कामनाओं ने मलिन कर दिया है, तू अपने उज्ज्वल स्वच्छ हृदय को पास मत ला, यहाँ से भाग जा। वह मेरे सामने नरक का अग्निकुंड दहक रहा है, यम के दूत मुझे उस कुंड में झोंकने के लिये घसीटे लिए जाते हैं, तू यहाँ से भाग जा। यह कहते कहते सुमन फिर मूर्च्छित हो गई।"

यों तो इनकी सभी रचनाएँ खिचड़ी भाषा में हुई हैं—उनमें हिंदी-उर्दू का परिमार्जित सम्मिश्रण हुआ है, परंतु कथोपकथन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। उसमें यदि बोलनेवाला मुसलमान है तो उर्दू की तत्समता और यदि हिंदू है तो संस्कृत की तत्समता अधिक प्रयुक्त हुई है। इनका यह विचार उचित है अथवा अनुचित, स्वाभाविक है या अस्वाभाविक इसका विवेचन यहाँ समीचीन न होगा अतएव केवल इतिवृत्त का ही प्रदर्शन कराया जाता है। प्रेमचंद्रजी को जहाँ कदाचित् अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ उन्होंने दिहाती अथवा प्रांतीय भाषा का भी प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त साधारणतः उनके वाक्य सदैव छोटे-छोटे होते हैं। इनसे भाव-प्रकाशन में सुगमता अवश्य हुई है, परंतु धारा-प्रवाह में बड़ा विघ्न उपस्थित हुआ है। उनकी सभी रचनाओं में—क्या उपन्यास क्या छोटी-छोटी कहानियाँ सब में—धारा-प्रवाह का बड़ा व्यतिक्रम पाया जाता है। भाव-व्यंजना बड़ी उखड़ी-पुखड़ी ज्ञात होती है। एक-एक वाक्य एक-एक बात लेकर—अलग-विलग खड़े सामने आते हैं। एक के साथ दूसरे का कोई सामंजस्य नहीं। यह बात विशेषतः उन स्थानों में प्राप्त होती है जहाँ उन्हें इतिवृत्तात्मक विवरण देना पड़ा है अथवा विषयोद्घाटन करना पड़ा है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्हें विषयारंभ में बड़ी दुरूहता का सामना करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त इसका एक और कारण ज्ञात होता है। वह विषय का आकस्मिक आरंभ न होना है। प्रत्येक विषय के आरंभ में कुछ न कुछ भूमिका बाँधना प्राचीन परिपाटी का उद्बोधन

करना है। यह विचार केवल प्राचीन कहकर ही नहीं टाला जा सकता। इसकी दूसरी दुर्बलता यह है कि इसमें वैसा आकर्षण भी नहीं रहने पाता। अँगरेजी साहित्य में स्काट के उपन्यासों में भी यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। इससे पाठक का मन सहसा पाठ्य-विषय में अनुरक्त नहीं होने पाता वरन् भूमिका की झाड़ी में ही उलझकर रह जाता है। इसी भूमिका भाग में प्रेमचंद्र की शैली विशेष अखड़ी जान पड़ती है। इन इतिवृत्तात्मक स्थलों में यदि नवीन और चमत्कारपूर्ण शैली का ग्रहण किया गया होता तो इतना रूखापन न आने पाता। साथ ही पाठकों का चंचल चित्त भी विषय की ओर अविलंब आकृष्ट हो जाता।

यह शिथिलता सर्वत्र हो, यह बात नहीं है। भाषणों में स्थान-स्थान पर, जहाँ हृदय के उथल-पुथल का मार्मिक चित्र अंकित किया गया है, वहाँ स्वभावतः भाव-शैली के साथ-साथ भाषा-शैली भी संयत एवं रोचक हो गई है। वहाँ इनके छोटे-छोटे वाक्य बड़े प्रभावशाली तथा आकर्षक हो गए हैं। इसके अतिरिक्त इन्हीं स्थानों पर धारा-प्रवाह का भी सुंदर निर्वहन पाया जा सकता है। यों तो ऐसे स्थान अधिक नहीं हैं, पर जो हैं वे बड़े ही मनोहर हैं। एक-एक वाक्य दूसरे से भिड़े हुए हैं। इसी प्रकार भाव भी एक लड़ी में निगुंफित प्राप्त होते हैं। भावों के परिष्कार के साथ-साथ आकर्षण भी बढ़ जाता है। ऐसे स्थानों पर वाक्य-समूह समाप्त किए बिना वाचक रुक ही नहीं सकता। जैसे—

"मनोरमा अचानक तन्मय-अवस्था में उछल पड़ी। उसे प्रतीत हुआ कि संगीत निकटतर आ गया है। उसकी सुंदरता और आनंद अधिक

प्रखर हो गया था—जैसे बत्ती उकसा देने से दीपक अधिक प्रकाशमान हो जाता है। पहले चित्ताकर्षक था, तो अब आवेशजनक हो गया था। मनोरमा ने व्याकुल होकर कहा—आह! तू फिर अपने मुँह से क्यों कुछ नहीं माँगता। अहा! कितना विराग-जनक राग है, कितना विह्वल करनेवाला। मैं अब तनिक भी धीरज नहीं धर सकती। पानी उतार में जाने के लिये जितना व्याकुल होता है; श्वास हवा के लिये जितनी विकल होती है, गंध उड़ जाने के लिये जितनी उतावली होती है, मैं उस स्वर्गीय-संगीत के लिये व्याकुल हूँ। उस संगीत में कोयल की सी मस्ती है। पपीहे की सी वेदना है, श्यामा की सी विह्वलता है, इसमें झरनों का सा ज़ोर है आँधी का सा बम। इसमें सब कुछ है, जिसमें विवेकाग्नि प्रज्वलित, जिससे आत्मा समाहित होता है और अंतःकरण पवित्र होता है। माँ का अब एक क्षण का विलंब मेरे लिये मृत्यु की यंत्रणा है। शीघ्र नौका खोल। जिस सुमन की यह सुगंधि है, जिस दीपक की यह दीप्ति है, उस तक मुझे पहुँचा दे। मैं देख नहीं सकती, इस संगीत का रचयिता कहीं निकट ही बैठा हुआ है, बहुत ही निकट।"

श्री प्रेमचंद्रजी ने जिस समाज का चित्र अंकित करने का बीड़ा उठाया वह दीन है। उसमें स्वर्गीय उल्लास नहीं है, उसमें उच्च भावनाओं का उन्माद नहीं है, यही कारण है कि विशेषतः उन स्थानों पर जहाँ उन्हें कारुणिक अवस्था का वर्णन करना पड़ा है, वहाँ एक दीप्ति उत्पन्न हो गई है। हमारे व्यावहारिक-संसार में दीनता का समाज है। उसमें नित्य प्रति अधिकांश ऐसे उदाहरण प्राप्त होते रहते हैं, जिन्हें देखकर करुणा का उद्रेक हुए बिना नहीं रह सकता। दीन मनुष्यों का विवरण देते समय उनकी भाषा बड़ी मार्मिक और भाव-व्यंजना बड़ी

ही द्रावक हुई है। भाषा का अत्यंत चलता रूप ही उन्होंने अपनी रचनाओं में रखा है। बाबू देवकीनंदन खत्री की भाषा का यह संस्कृत और परिमार्जित रूप है। प्रेमचंद्रजी की प्रतिनिधि स्वरूप यही भाषा है। इसी का प्रयोग उन्होंने अधिकतर किया है। उदाहरण निम्नांकित है।

"यह सोचता हुआ वह अपने द्वार पर आया। बहुत ही सामान्य झोपड़ी थी। द्वार पर एक नीम का वृक्ष था। किवाड़ों की जगह बाँस की टहनियों की एक टट्टी लगी हुई थी। टट्टी हटाई। कमर में पैसों की छोटी पोटली निकाली जो आज दिन भर की कमाई थी। तब झोपड़ी की छान में से टटोल कर एक थैली निकाली, जो उसके जीवन का सर्वस्व थी। उसमें पैसों की पोटली बहुत धीरे से रक्खी जिसमें किसी के कान में भनक न पड़े। फिर थैली को छान में रखकर वह पड़ोस के घर से आग माँग लाया। पेड़ों के नीचे कुछ सूखी टहनियाँ जमाकर रक्खी थीं, उनसे चूल्हा जलाया। झोपड़ी में हल्का सा अस्थिर प्रकाश हुआ। कैसी विडंबना थी। कैसा नैराश्यपूर्ण दारिद्रय था। न खाट न बिस्तर, न बर्तन न भाँड़े। एक कोने में मिट्टी का एक घड़ा था, जिसकी आयु का अनुमान उस पर जमी हुई काई से हो सकता था। चूल्हे के पास हाँडी थी। एक पुरानी चलनी की भाँति छिद्रों से भरा हुआ तवा, और एक छोटी सी कठौत और एक लोटा। बस यही उस घर की सारी संपत्ति थी। मानव-लालसाओं का कितना संक्षिप्त स्वरूप था। सूरदास ने आज जितना नाज पाया था सब उसी हाँडी में डाल दिया। कुछ जव था, कुछ गेहूँ, कुछ मटर, कुछ चने, थोड़ी सी ज्वार और एक मुट्ठी भर चावल। ऊपर से थोड़ा सा नमक डाल दिया। किसकी रचना ने ऐसी खिचड़ी का मज़ा चक्खा है? उसमें संतोष की मिठास थी, जिससे मीठी संसार में कोई वस्तु नहीं। हाँडी चूल्हे पर

चढ़ाकर वह घर से निकला, द्वार पर टट्टी लगाई और सड़क पर जाकर एक बनिए की दूकान से थोड़ा सा आँटा और एक पैसे का गुड़ ले आया। आँटे को कठौते में गूँधा और तब आध घंटे तक चूल्हे के सामने खिचड़ी का मधुर आलाप सुनता रहा। उस धुँधले प्रकाश में उसका दुर्बल शरीर और उसका जीर्ण वस्त्र मनुष्य के जीवन-प्रेम का उपहास कर रहा था।"

राय कृष्णदासजी भाव-प्रकाशन की एक विचित्र-शैली लेकर गद्य-साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। परोक्ष सत्ता की जो भावात्मक अनुभूति मानव-हृदय में होती है उसकी व्यंजना इन्होंने बड़ी ही मार्मिक प्रणाली से की है। एक प्रकार से इस प्रणाली का इन्होंने शिला-न्यास किया। अनुभूति के भावात्मक होने के कारण कल्पना का इन्होंने विशेष आधार रखा है। भावनाओं की गंभीरता के साथ-साथ इनकी भाषा में बड़ा संयम पाया जाता है। इतनी व्यावहारिक और नित्य की चलती-फिरती, सीधी-सादी भाषा का ऐसा उपयोग किया गया है कि भाव-व्यंजना में बड़ी ही स्पष्टता आ गई है। इस भाषा को चलती-फिरती कहने का तात्पर्य केवल यह है कि तत्समता के साथ 'कलपते' और 'अचरज' ऐसे ऐसे कितने शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त साधारण उर्दू के शब्द भी प्रयोग में आए हैं। यों तो स्थान-स्थान पर इन शब्दों के तत्सम रूप ही लिखे गए हैं, परंतु अधिकतर तद्भव रूप तो एक ओर रहा मुहावरों तक को हिंदी का झोलगा पहनाया गया है। "दिल का छोटा है" के स्थान पर उसका सम्यक् अनुवाद करके "हृदय से लघुतर है" लिखा गया है। "उसका दिल नहीं तोड़ना चाहती

राय कृष्णदास

थी" से कहीं अधिक उपयुक्त उन्हें "उनका हृदय नहीं तोड़ना चाहती थी" जँचता है। कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो या तो तद्भव के कारण बिगड़ गए हैं अथवा उनका प्रांतीय प्रयोग हुआ है। जैसे—'साहुत,' 'कादने', 'कुधरता', 'ढकोसला', 'ढड्ढा', 'मंगते', 'कुंडी', 'राम मोटरिया', 'अवसत', इत्यादि। ऐसा करने के केवल दो कारण हो सकते हैं। एक तो पदावली की रमणीयता और दूसरा भाषा के चलतेपन का विचार। साथ ही 'सो' (वह, इसलिये), 'हौ' (हो), 'लौं' (तक) से जो पंडिताऊपन प्राप्त होता है वह भी केवल भाषा की सरसता एवं स्वाभाविकता के विचार से लिखा गया है। इन सब बातों को एक ओर रखकर हम यह देखेंगे कि ये सदैव वाक्यों को संपूर्ण करके ही छोड़ते हैं, चाहे ऐसा करना आवश्यक न भी हो। जैसे—"पर मैं अशांत, विचलित या भीत नहीं होता हूँ।" इस वाक्य में यदि 'हूँ' न भी रखा जाता तो भी वाक्य-पूर्ति में कोई बाधा न पड़ती। पर लेखक की शैली एवं प्रवृत्ति भी तो कोई वस्तु है।

इनकी यह भाव-व्यंजनात्मक शैली बड़ी मार्मिक तथा प्रौढ़ होती है। समासांत-पदावली के बिना भी इतना सरस विवरण और बिना उत्कृष्ट शब्दावली का आश्रय लिए हुए भी इतना व्यापक एवं सुचारु रूप संभवतः अन्य स्थानों में न मिल सकेगा। उसमें उनकी वैयक्तिकता की छाप लगी हुई है। गूढ़ आत्मानुभूति का करुणात्मक और आकर्षक निवेदन कितना भावमय हो सकता है इसका सफल प्रमाण उन्होंने अपनी 'साधना' में दिखाया है। छोटे-छोटे वाक्यों का प्रभावशाली सम्मेलन अपूर्व ही छटा दिखाता है।

भावप्रकाशन के सरल, मनोहर, चलते ढंग का उदाहरण नीचे देखिए—

"मैं अपनी मणि-मंजूषा लेकर उनके यहाँ पहुँचा पर उन्हें देखते ही उनके सौंदर्य पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी मणियों के बदले उन्हें मोल लेना चाहा। अपनी अभिलाषा उन्हें सुनाई। उन्होंने सस्मित स्वीकार करके पूछा कि किस मणि से मेरा बदला करोगे? मैंने अपना सर्वोत्तम लाल उन्हें दिखाया। उन्होंने गर्व-पूर्वक कहा—अजी, यह तो मेरे मूल्य का एक अंश भी नहीं। मैंने दूसरी मणि उनके आगे रक्खी। फिर वही उत्तर। इस प्रकार उन्होंने मेरे सारे रत्न ले लिए। तब मैंने पूछा कि मूल्य कैसे पूरा होगा? वे कहने लगे कि तुम अपने को दो तब पूरा हो।"

"नदियों ने अपने खेलने का स्थान अपने जन्मदाता पहाड़ों की गोद में रक्खा है, जहाँ वे एक चट्टान से कूदकर दूसरी पर जाती हैं, जहाँ वे ढोकों के संग खेल कूद मचाती हैं और छींटे उड़ाती हैं तथा प्रसन्न होकर फेन-हास्य हँसती हैं, जहाँ वे अपनी ओर झुकी लता-अलियों का हाथ पकड़कर उन्हें अपने संग ले दौड़ना चाहती हैं, जहाँ उनके बाल-संघाती क्षुप अंकुरांगुलियों से गुदगुदाते हैं और वे तनिक सा उचक कर तथा वंक होकर बढ़ जाती हैं, जहाँ वे लड़कपन में भोले भाले मनमाने गीत गाती हैं और उनके पिता उनके प्रेम से उन्हें दुहराते हैं, और जहाँ वे पूरी ऊँचाई से वेग के साथ कूदकर गढ़ों में आती हैं और आप ही अपना दर्पण बनाती हैं।"

इन्होंने भावावेश की चामत्कारिक प्रणाली का अनुसरण किया है। इनकी रचना में भी हमें वही उल्लास एवं उन्माद प्राप्त होता है जो कि पूर्वोक्त 'प्रसाद' जी की रचनाओं में मिल चुका है। इन्हें भी प्रेमचंद्रजी की व्यावहारिकता से काम

नहीं। सांसारिक घटनाओं में ये अपने पाठकों को नहीं पड़े रहने देना चाहते। उसे वे कल्पना की स्वर्गीय विभूति का दर्शन कराना चाहते हैं—"कल्पना का लोक" जो ब्रह्मलोक से भी ऊपर है। यही कारण है कि "दीप्तिमान नीली यवनिका के आगे सहज सस्मित भगवान अमिताभ के दर्शन" मिलने पर "लौकिक प्रसन्नता का" काम नहीं रह जाता। यही कारण है कि उनकी 'आशा' भी रूपात्मक सत्ता धारण कर 'लावण्य-वती' बन जाती है; "अतीत वर्तमान बनकर उसके सामने अभिनय करने" लगता है। उनकी आँखों से आँसू नहीं वरन् "ममता की दो बूँद टपक" पड़ती है। "उस वीतराग की ममता ही उनका एक मात्र असबाब" बनता है। 'प्रातः-काल हुआ। सूर्य निकला।' कहना उन्हें पसंद नहीं। उनको तो "दिन का आगमन जानकर तमोभुजंगम उदयाचल की सुनहली कंदराओं में जा छिपा। जल्दी में उसका मणि छूट गया।" कहना ही रुचता है। 'उसके मन में धुँधले बादल की तरह भावना' उठती है। संसार की स्थूल अभि-व्यक्तियों में उसकी कोई अनुरक्ति नहीं दिखाई पड़ती।

इस प्रकार की भावावेश की शैली में यदि स्थान-स्थान पर वाक्य-विन्यास की ओर विशेष ध्यान न रखा जाय तो भावव्यंजना रूखी हो जाय। शब्दों के चामत्कारिक प्रयोगों के साथ, पद-लालित्य का सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। तभी भाषामाधुरी उत्पन्न होती है। इस माधुरी की भाव-प्रकाशिनी शक्ति उस स्थान पर और अधिक शक्ति-शालिनी बन जाती है—वाक्यों की बनावट में उलट-फेर हो जाता है। "उत्कट इच्छा होती है, वहाँ चलने की।" "सम्राट ने एक

महल बनाने की आज्ञा दी—अपने वैभव के अनुरूप, अपूर्व, सुख और सुषमा की सीमा।" "कब मैं चला, कब प्रातः-काल का स्वागत पक्षियों के कोमल और मधुर-कंठ ने किया, कब दोपहर की सूचना पवन की सनसनाहट ने दी, कब स्निग्ध पत्तियों को अपने करों का स्पर्श करके उन्हें अनुराग से किसलयों के सदृश बनाता हुआ सूर्य विदा हुआ, मुझे कुछ मालूम नहीं। कब उसके विदा होते ही नभस्सर में लाखों नलिनी खिल उठीं, कब चंद्रमुखी रजनी आई, इसका भी ज्ञान नहीं।" इसके अतिरिक्त ऊहात्मक-विवरण भी आप बड़ा सुंदर देते हैं। उसमें स्वाभाविकता रहते हुए चमत्कार रहता है। "महाराज की अंगारे जैसी आँखें चित्रकार को भस्म कर रही थीं।" "संध्या का शीतल समीर उसके उष्ण मस्तक से टकराकर भस्म हुआ जाता था। कुमार को बोध होता था कि सारा प्रासाद भूकंप से ग्रस्त है। अनेकानेक प्रेत-पिशाच उसे जड़ से उखाड़ डालते हैं। क्षितिज में सांध्य-लालिमा नहीं, भयंकर आग लगी हुई है। प्रलय काल में देर नहीं।" "एक तरुणी तपस्या कर रही थी—घोर तपस्या कर रही थी। उसकी तपस्या से त्रैलोक्य काँप उठा।" इत्यादि।

भाव-व्यंजना में इन्होंने अलंकार की शैली का मनोहर उपयोग किया है। जैसे, तैसे का एक रूप हम श्री प्रेमचंदजी की रचनाओं में पाते हैं। उनके भावाधार व्यावहारिक जगत् के हैं, अतएव उनकी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ भी नित्य के साधारण व्यवहार-क्षेत्र की हुई हैं। परंतु इन, राय कृष्ण-दासजी की, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में असाधारण अनुभूति

की व्यंजना एवं काल्पनिक विभूति का प्रकाशन है। उनकी भावात्मक-विचार-शैली के चमत्कार-वाद का प्रभाव इस आलंकारिक कथन पर भी पड़ा है। उनका अनुभव-जगत् कितना दिव्य एवं उत्कृष्ट है इसका पता इससे सरलता से लग जाता है। उनके इस आलंकारिक कथन से शैली दुरूह हो गई हो ऐसी बात भी नहीं है। उसमें भावों का इतना अच्छा परिष्कार हुआ है कि कथनप्रणाली में महत्त्वपूर्ण आकर्षण आ गया है। राय साहब के इस अलंकार-वाद में उनकी प्रतिभा की प्रखरता एवं कल्पना की विशदता प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित है। जैसे—"चिकनी निहाई में उस आभूषण की छाया, ब्राह्म मुहूर्त की धूसरता में ऊषा के प्रकाश की भाँति झलक रही थी।" "जिस प्रकार ज्वालामुखी के लावा का प्रवाह आँख मूँदकर दौड़ पड़ता है और उसके आगे जो पड़ता है, उसे ध्वस्त करता चलता है, उसी प्रकार राजकुमार का मानसिक आवेश भी अंधा होकर दौड़ रहा था।" "यदि प्रतप्त अंगार औचक शीतल पानी में पड़ जाय तो शतधा फट जाता है, उसी तरह उसके हृदय की दशा हो रही थी।" "महारानी उसी शकल में धड़धड़ाती हुई राजसभा में उतर आई—पहाड़ी प्रवाह के वेग में दौड़नेवाली शिला की तरह!" "वह कन्या प्रभातवेला के ऐसी टटकी और कमनीय है तथा स्वाती की बूँद की तरह निर्मल, शीतल और दुर्लभ है।" "जिस प्रकार अचेतन यंत्र चेतन बनकर काम करने लगता है उसी प्रकार यह चेतन, अचेतन यंत्र होकर, अपनी धुन में लगा था।" "सम्राट का स्वप्न विकीर्ण हो गया, जैसे गुलाब की पँखड़ियाँ अलग-अलग होकर उड़-पुड़

जाती है।" "गुलाब की क्यारियाँ खिली हुई हैं। बीच बीच में प्रफुल्ल बेले की बल्लियाँ हैं। मानो नवेली प्रकृति के पौधे ओठों में दशन-पंक्ति दमक रही हैं।" "सुप्त बालक के मुँह पर जिस प्रकार हँसी झलक जाती है उसी तरह दिन बीत गया। शिखर जिस भाँति धीरे धीरे कुहरा आच्छादित करता है उसी भाँति अँधेरा बढ़ने लगा।" "वह देखो समभूमि पर की नदियाँ और जंगल कैसे भले मालूम होते हैं। मानो वसुंधरा ने अपनी अलकों को मोतियों की लड़ों से अलंकृत किया है। क्षितिज में रंग विरंग बादल उसकी साड़ी की भाँति शोभित हो रहे हैं।" केवल भाव-व्यंजना के ऊहात्मक विवरण देने में ही इन्होंने इस आधार से काम नहीं लिया वरन् स्थान स्थान पर भाव-श्रृंखला के बढ़ाने में भी इसका उपयोग हुआ है। जैसे—"जिस समय तुम देखते हो कि विशालकाय गजराज किसी परम लघु उद्वेग से हारकर विचलित हो रहा है उस समय तुम उसके गंडस्थलों से मद बहाने लगते हो और वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। उसी प्रकार जिस समय तुम देखते हो कि मेरा मन क्षुब्ध हो रहा है और क्षुब्ध सागर में पड़े पोत से मेरी दशा हो रही है उस समय तुम मेरे आँसू बहाने लगते हो और मैं शांत हो जाता हूँ।" इत्यादि।

भाषा-शैली की दिव्यताओं के साथ साथ इनमें धारा-प्रवाह का संयत और आकर्षक रूप रहता है। आकर्षक वह इस प्रकार होता है कि एक स्थान से पढ़ना आरंभ करने पर किसी स्थान विशेष पर ही जाकर प्रगति रुकती है। इससे शैली में दृढ़ गठन उत्पन्न होता है। वाक्य परस्पर संबद्ध

होते हैं। एक वाक्य के पढ़ते ही आगामी वाक्य का आभास मस्तिष्क में स्वयं उपस्थित हो जाता है। वाक्य-विन्यास की सुंदरता इससे और भी उद्दीप्त हो गई है, क्योंकि शब्द-शोधन और चयन बड़ा ही उपयुक्त बन पड़ा है। यदि लेखक रूखे सूखे इति-वृत्तात्मक स्थानों पर भी धारा-प्रवाह का निर्वाह कर लेता है तो और कहीं किसी स्थान पर उसकी इस विभूति की परीक्षा प्रयोजनीय नहीं। ऐसे स्थानों पर भी राय साहब की लेखनी बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित करती है। जैसे—

"अब स्वर्णकार के सामने एक स्वप्न का आविर्भाव हुआ। निद्रा के समिश्र लोक में आलोक का संचार होने लगा। स्वर्णकार ने अपने को एक प्रभावपूर्ण घाटी में पाया। चारों ओर छोटी-छोटी टेकारियाँ थीं; उन पर हरियाली का अटल राज्य। वनस्पति जगत् के संग सूर्य्य की किरणें खेल रही थीं। सारी वनस्थली फूलों से लदी हुई थी। रंगों का मेला लग रहा था—वही प्रकृति का मीना-बाजार था। सौरभ का कोश खुला हुआ था। मधुप की सेलियाँ गुंजार कर रही थीं। पुष्पावलियों पर झूम रही थीं। इधर उधर चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। बीच में एक स्वच्छ फेनिल क्षीण स्रोत कलकल करके बह रहा था। वसंत पवन धीरे धीरे चल रहा था। अटकता हुआ चल रहा था। पुष्पों की भीड़ में उसे मार्ग ही न मिलता था। एक-एक भूलभुलैया में पड़ा हुआ था।" "स्रोत के उस पार एक बाला पुष्प वन अलसगति से घूम रही थी। वह इस पुष्प-समूह की आत्मा है क्या? उसका सारा शरीर पुष्पाभरणों से सजा है। हाथ में एक डोलची है जिसमें वह फूल चुन चुनकर रख रही है। वह, जाने किस

विचार में मग्न है, और इसी अन्य-मनस्क अवस्था में कोई गान गुनगुना रही है। वह निर्मलता, सुंदरता, वह पवित्र भाव, वह स्वर्गीय अस्फुट-गान, सारे दृश्य में मिलकर क्या समा बाँध रहे हैं।"

राय साहब की रचनाओं में "परोक्ष आलंबन के प्रति प्रेम भाव का जैसा पुनीत उत्कर्ष है, उसी के अनुरूप मनोरम रूप-विधान और सरस पद-विन्यास भी है।"

वियोगी हरि

इसी परोक्ष आलंबन का वैभव हम श्री वियोगी हरि की रचनाओं में पाते हैं। पर इस वैभव के प्रकाशन-प्रणाली में अवश्य अंतर है। और यह अंतर साधारण नहीं है। जिन विशेषताओं का विवेचन हम राय साहब की भाषा-शैली में कर चुके हैं उनको इनकी रचना में कहीं नहीं पाते। न वह कथन की सरल तथा व्यावहारिक विशदता है और न गूढ़ातिगूढ़ भावना का प्रकाश-चित्र ही प्राप्त होता है। इन दोनों लेखकों की भाषा-शैली में आकाश-पाताल का अंतर है। राय साहब भली भाँति समझते हैं कि यदि हृदय की मार्मिक ग्रंथियों को सीधे-सीधे न सुलझाया जायगा तो वे कदापि स्पष्ट न हो सकेंगी। उनके लिये दुरूह संस्कृत तत्समता आवश्यक नहीं। जिस समय हृदय में सरस—अथवा किसी प्रकार की—भावनाओं का उद्रेक होता है उस समय मस्तिष्क को इतना अवकाश नहीं रह जाता कि छाँट छाँटकर अथवा गढ़ गढ़कर लंबी-चौड़ी समासांत पदावली का निर्माण कर सके। उस समय भावावेश का व्यावहारिक प्रकाशन ही स्वाभाविक एवं समीचीन है। यदि भाषा की संस्कृति अथवा लच्छेदार पदावली की छान-बीन के फेर में लेखक पड़ता है तो केवल

लड़ी ही न बिखर जायगी प्रत्युत कृत्रिमता का आभास दिखाई पड़ने लगेगा।

पर जिसे गद्य काव्य की पांडित्य-पूर्ण उद्भावना ही अभिप्रेत है उसे इन बातों से कोई प्रयोजन नहीं। हृदय की भावनाओं की बाह्य जगत् में वस्तुतः सम्यक् स्पष्ट व्यंजना हो, इस बात की उसे विशेष चिंता नहीं। मानव-हृदय में अपने भावावेश की मधुर अनुभूतियों का प्रकाश डालना भी उसे विशेष प्रयोजनीय नहीं ज्ञात होता। वह भाषा की उत्कृष्टता के लिये भाव-व्यंजना को बलिदान चढ़ा सकता है। वह अपनी भावनाओं का बड़ा ही सुंदर शरीर उपस्थित करता है। उसके लिये यही सब कुछ है। उस शरीर में आत्मा है कि नहीं, वह कुछ बोलता है कि नहीं अथवा उसमें चेतनता का प्रकाश है कि नहीं इसकी समीक्षा करने वह नहीं बैठता। हमें वियोगीजी की रचनाओं में इसी भ्रांत प्रवृत्ति का परिपुष्ट प्रमाण मिलता है। उनकी अधिकांश भाव-व्यंजना दुरूह संस्कृत तत्समता लिये हुए समासांत पदावली में हुई है। कहीं-कहीं तो उनकी शैली बाण की कादंबरी से टक्कर लेने लगी है। जैसे—

"जब मैं अति विशद निर्जन अरण्य में कलरव-कल-कलित सुललित झरनों का सुगति-विन्यास देखता हूँ, मंद स्रोतस्वती-सरित-तट-तरु-शाखा-विहरित-कलकंठी-कोकिल-कुहुक-ध्वनि सुनता हूँ, प्रभात-ओस-कण-झलकित-हरित-तृणाच्छादित-प्रकृति-परिष्कृत-बहु-वनस्पति-सुगंधित-सुखद-भूमि पर लेटता हूँ, तथा नाना-विहंग पूर्ण-सुफलित-वृक्षावृत-गिरि-सुवर्ण-शृंग-शुभ्र-स्फटिकोपम-शिलासन पर बैठकर प्रकृति-छटा-दर्शनोन्मत्त-अर्धोन्मीलित-साश्रु-नयन-द्वारा अस्तप्राय तप्त-कांचन-वर्ण रवि-मंडल-भव-कमनीय-कांति की ओर निहारता हूँ, तब स्वभाव-सुंदर

लज्जावनत अप्रकट-सुमन-सौरभ-रसिक-पवन आकर, श्रवण-पुट द्वारा तेरा विरहोत्कंठित प्रिय संदेश सुना जाता है।

"प्यारे, तू नित्य ही मेरे द्वार पर सघन-घन-तमाच्छन्नकृष्ण-वसन-लसितनिशि-समय सुजन-मन-मोहिनी रसिक-रस-सोहिनी वेणु बजाता है; माधवी-मल्लिका-मकरंद-लोलुप-मलिंद-गुंजार-समुल्लसित, नवरस-पूरित, सुप्रेम-प्रतिभा-समुदित-कवि-हृदय-द्वारा स्वच्छन्द-आनन्द-कन्द-संदेश भजता है, और कभी-कभी विरह-दग्ध-उर-निस्सरित-प्रेमाश्रु-वर्षण वा संयोग-गत-प्रगाढ़ालिंगन-रोम-हर्षण में अपनी सुप्रीति-मय झलक दिखा जाता है।"

वियोगीजी के संदेश की यह व्यंजना है। संभव है परमात्मा घट-घट व्यापी होने के कारण इसे समझ ले और शीघ्र ही इसमें अन्तर्निहित भावावेश की नस पकड़ ले परंतु साधारण जन इसकी मार्मिकता का परिचय बिना सचेष्ट कष्ट उठाए नहीं पा सकता। बेचारा वाग्जाल के झाड़ी-झंखाड़ में ही अटका रह जायगा। उसके हृदय में स्थित पुष्पपराग का आनंद-लाभ कदापि न कर सकेगा और लेखक के सधारण प्रमाद से उसकी मनोहर अनुभूतियों का सम्यक् अनुशीलन भी न कर सकेगा। वह गद्य-काव्य का रूप अवश्य देख लेगा परंतु उसमें चित् का अंश भी है यह उसकी आशा का केवल अनुमान भर होगा। इस प्रकार की भाषा-शैली वस्तुतः अव्यावहारिक एवं भावनाओं की बोधगम्य व्यंजना में सर्वथा असमर्थ ही होती है। ललित पदावली होते हुए भी मधुरता का ह्रास दिखाई पड़ता है। मधुरता रहती अवश्य है परंतु भावावेश की अनुभूति न होने से वास्तविक गुण का बोध नहीं होता।

इस संस्कृत-शैली के अनुशीलन के कारण स्वभावतः भाषा स्थान-स्थान पर सानुप्रासिक दिखाई पड़ती है। यह अनुप्रास कृत्रिम नहीं वरन् प्रकरण-प्राप्त और अर्थ-व्यंजक होता है। "अपनी लाड़िली ललो की एक लीला और सुन लो। किसी तरह मैंने अपना मन-मानिक मानसी मंजूषा में बंद करके रख छोड़ा है।" "आपका सहज स्नेह तथा सरल स्वभाव मेरे हर्ष-हीन हृदय के जिस कठोर कोण में विराजित हुआ, वहाँ से अकथनीय आह्लाद के सुभग-स्रोत बहने लगे। आप के स्तन्य दान से पुष्टि और तुष्टि की चरम-सीमा का पूर्णानुभव हो गया। कर-कमल की छाया से मायामय आवरण हटाकर आज नितांत-निर्भयता-निरत-निद्रा में जीवन-जागृति ज्योतिर्मयी कर रहा हूँ।" इस प्रकार के अनुप्रासों से यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उनके आगमन के लिये लेखक को कष्ट नहीं उठाना पड़ा है। वे स्वाभाविक हैं अतएव सुंदर हैं।

नाटककार कथोपकथन में स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिये स्थान-स्थान पर वाक्य-रचना में कुछ उलट-पुलट कर दिया करते हैं। व्यावहारिकता के विचार से भी यह आवश्यक है। आवेशपूर्ण भाषा-शैली में इसका बड़ा प्रभाव पाया जाता है। इस प्रकार के उलट-फेर से आवेशपूर्ण कथोपकथन में बड़ी उग्रता उत्पन्न हो जाती है। वियोगी-जी ने भी इसका उपयोग किया है। वाक्यों का यह उलट-फेर उस समय और भी अच्छा ज्ञात होता है जब लगातार कई वाक्यों में इसका प्रयोग होता है। यदि भिन्न-भिन्न स्थानों पर एकाध वाक्य इस प्रकार के लिखे गए तो वे इतने सुंदर और मधुर न लगकर अस्वाभाविक एवं अप्रयोजनीय ज्ञात पड़ते

हैं। इस प्रकार के प्रयोग से कोई चमत्कार विशेष भी नहीं प्रकट होता। "परसों गुरुदेव ने जो कहा था," "हैं! भला देखो तो!!" "पर हैं यह सब आप के मनमोदक।" "स्वप्न-पटल पर अंकित-सा दिखाई देता है। आज तुम्हारा उपदेश!", "पिला दो प्यारे! इन्हें अपने दर्शन का दो घूँट पानी!", "उड़ेल दो प्यारे! थोड़ा सा सौंदर्य-मधु इन उन्मत्त मधुकरियों को।" यदि कहीं-कहीं इस प्रकार के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं तो वे प्रभावरहित और व्यर्थ ज्ञात होते हैं। परन्तु हाँ! जहाँ एक ही लगाव में कई वाक्यों में इस प्रकार का वाक्य-व्यतिक्रम रहता है वहाँ कुछ स्वाभाविकता और प्रभाव रहता है। पर ऐसे स्थल न्यूनातिन्यून हैं। जैसे—"कैसा होगा वह वीणा पर हाथ रखनेवाला, कैसी होगी उसकी गति-माधुरी, कैसी होगी उसकी सरल-मंद-मुसकान!"

इन्होंने 'आख़िर', 'क़ैद', 'दर्द', 'सर्फ़', 'ख़ुदी', 'चीज़', 'तरफ़', 'ज़हरीला', 'ख़ैर', 'आवाज़', 'बाज़ी', 'आफ़त', इत्यादि अनेक उर्दू के तत्सम शब्दों का प्रयोग इधर उधर किया है। यह विशेष बुरा नहीं है। परंतु जहाँ संस्कृत की घोर तत्समता के बीच उर्दू का एक तत्सम शब्द आ पड़ा है वहाँ वह 'हंसमध्ये बको यथा' बड़ा अस्वाभाविक ज्ञात होता है। संभव है इस प्रकार के प्रयोग में लेखक का सिद्धांत अथवा चाव विशेष हो, परंतु भाषा-सौष्ठव के विचार से न तो इसमें कोई चमत्कार ही प्रकट होता है और न स्वाभाविकता ही दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिये दो चार अवतरण ही पर्याप्त होंगे। "आज के दिन मेरी विचार-तरंग-माला सांसारिक परिस्थिति रूपी तूफ़ान से चंचल होने

लगी है, मेरी स्वतंत्रता शनैः शनैः स्वार्थियों की कृतघ्नता रूपी काल-कोठरी में छिपती जा रही है।" यहाँ क्या अच्छा होता यदि **तूफ़ान धीरे धीरे** के साथ आ जाता। उसका **शनैः शनैः** के साथ आना कितना अस्वाभाविक और अव्यवहार्य है। "वही हिमशिखर अकस्मात् अनलज्वालाएँ उगल उठा! जेठ मास के रेगिस्तानी तूफ़ान ने हिम-शिलाएँ थरथरा डालीं।" "मेरे उद्यान में पक्षियों का कलरव ख़ूब भर रहा था।" "उनकी अर्धोन्मीलित आँखें रणांकण में बंद हुई थीं।" "कृत्रिम सभ्यता-रमणी के गुलाम हो रहे हैं।" "तुम्हारे पाद-पद्म-समीपेषु रहते हुए भी इस कुंद जहन ने सनातन समाज व्यापी स्वार्थवाद का यथेष्ट अध्ययन नहीं किया।" "उसके आधार में न तो विशुद्ध सत्य ही रहता है और न निष्कपट सौजन्य और सौहार्द ही। ऐसे यांत्रिक फैसले को महत्व ही क्या दिया जा सकता है।" इत्यादि।

पर जब इसी उर्दू शब्दावली का व्यवहार कुछ वाक्यों में होता है तो उसमें स्वाभाविक सरलता आ जाती है। इस सरलता के अतिरिक्त उसमें चमत्कार भी प्राप्त होता है। जैसे—"उसका दीदार तेरी तीन कौड़ी दुनिया का काया पलट कर देगा। साथ ही तेरी दुरंगी नज़र भी बदल जायगी। उस नज़ारे के आगे तुझे 'मुक्ति' फीकी और बदरंग जँचेगी।" "यवनिका के चित्र फीके पड़ गए, श्मशान की भीषण ज्वाला जल उठी और कफ़न में लिपटे हुए हज़ारों मुर्दे नेपथ्य में जमा हो गए।" "दिल की सफ़ाई करके दुनिया का कूड़ा करकट साफ़ कर। ख़ुदी को खोकर बेख़ुदी में मस्त हो। आँख पर से एक तरफ़ी चश्मा हटाकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर।" इत्यादि।

इसके अतिरिक्त जहाँ 'भठियारिन', 'सवार', 'अनाथालय' ऐसे साधारण विषय आए हैं वहाँ इनकी भाषा-शैली भी कुछ सरल तथा चलतापन लिए हुए है। परंतु उसमें शिथिलता आ गई है, इन स्थानों पर इनमें व्यावहारिकता तो अवश्य आई है। परंतु भाषा कुछ उखड़ी हुई है। जैसे—"देख, बाग मोड़ ले, इस मार्ग पर हो आगे न बढ़। इसके दोनों ओर खाई खंदक हैं। तू तो उस तंग गली से जा। रास्ता टेढ़ा मेढ़ा अवश्य है, कंकड़ीला भी है। काँटे भी बिछे मिलेंगे। पर डरना मत, साहस मत छोड़ना, चले ही जाना, बहादुर सवार! जब यह तेरा मस्त सैलानी घोड़ा हाँफने लगे; पसीने से तर हो जाय, अपनी सारी कूद फाँद भूल जाय, तब उतर पड़ना। बस वहीं सफ़र पूरा समझना। तू अपना लक्ष्य-स्थान पा लेना। उसी स्थान पर तुझे स्थैर्य प्राप्त होगा। सुना है, उस स्थैर्य को स्थिति-प्रज्ञों ने 'ब्राह्मी-स्थिति' का नाम दिया है।" इस अवतरण के एक-एक वाक्य एक-एक भाव-विशेष अलग लिए बैठे दिखाई पड़ते हैं।

जिन स्थलों पर इन्होंने अपनी अस्वाभाविक संस्कृत-तत्समता की दीर्घ समासांत पदावली का उपयोग नहीं किया है और न जहाँ वे केवल चलतेपन के विचार से उर्दू की ओर झुके, वहाँ इनकी भाषा विशुद्ध, स्पष्ट, व्यावहारिक एवं श्रुति-मधुर हुई है, और ये सब गुण स्वाभाविक रूप में उपस्थित हुए हैं। इनके लिये कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वस्तुतः यही भाषा-शैली 'वियोगी' जी की है। इस शैली के अनुसरण में इन्होंने छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है। उसमें भावावेश की परिमार्जित व्यंजना की है। इन स्थलों पर

अन्य गुणों के साथ साथ धारा-प्रवाह का बड़ा ही स्वाभाविक निर्वाह बन पड़ा है। जैसे—

"इस रमणीय संध्या को चबूतरे पर निरुद्देश-सा बैठा हुआ मैं सामने के उच्च शिखरों की ओर टक लगाए देख रहा था। स्वच्छ चाँदनी से निखरे हुए हिमाच्छादित श्वेत शिखर ऐरावत के दाँतों से होड़ लगा रहे थे। बैठा बैठा मैं, न जाने किस उधेड़बुन में लग गया। मेरी विचारशक्ति प्रतिक्षण क्षीण होती जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानों मैं किसी गहरे अन्धकूप में डूबता जा रहा हूँ।

एकाएक किसी स्वर्गीय स्वर ने मेरी ध्यान-मुद्रा भंग कर दी। स्वर बाँसुरी का सा था। पीछे निश्चय भी हो गया कि कहीं से बांसुरी की ध्वनि आ रही है। वह उल्लासित स्वर-लहरी उस प्रशांत नभोमंडल में विद्युत् की भांति दौड़ने लगी। हृदय लहरा उठा। शिखर मुसकराने लगे। चंद्रमा पुलकित हो गया। परिमल-वाही पवन प्रणय-संकेत करने लगा। दिग्वधुएँ घूँघुट हटा झांकने लगीं। नाला भी निस्तब्ध हो गया। पत्तियाँ थिरकने लगीं। मुग्धा प्रकृति के सलज्ज मुख पर एक अनुपम माधुरी-कलिका मुकुलित हो उठी। यह सब उसी मोहिनी-ध्वनि का प्रभाव था। तो फिर मैं नव सृष्टि-विधायिनी क्यों न कहूँ।"

राय कृष्णदास और श्री वियोगी हरि में हमने भावावेश का भिन्न-भिन्न रूप देखा है। दोनों लेखकों की विषय-प्रतिपादन-प्रणाली में भी अंतर है। श्री चतुरसेन शास्त्री की रचनाओं में दोनों लेखकों की अपेक्षा भाषा का अधिक व्यावहारिक रूप दिखाई पड़ता है। अँगरेजी भाषा के सुंदर लेखक चार्ल्स लैम्ब में इस बात की विशेषता थी कि वह लिखते समय अपने पाठकों को अपना समझने लगता था। उसकी रचनाएँ आत्मीयता के

चतुरसेन शास्त्री

भाव से इतनी परिपुष्ट एवं ओत प्रोत रहती है कि उसकी शैली में चमत्कार विशेष के साथ व्यावहारिकता तथा सरलता का आकर्षक रूप मिलता है। वही बात हमें शास्त्रीजी की उन रचनाओं में प्राप्त होती है जिनमें उन्होंने अपनी हृदयस्थ भावनाओं के उथल-पुथल का मनोरम चित्र खींचा है। उनके पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक अपनी व्यथाओं की राम-कहानी इस प्रकार कह रहा है कि पाठक सुनकर तड़पें, रोएँ, गाएँ और हँसें। पाठकों को विश्वास हो जाता है कि उनका कोई अभिन्न-हृदय मित्र अपना हृदय निकालकर उनके सम्मुख रख रहा है—और इस विचार से रख रहा है कि विचार करें, देखें, सुनें और उसकी सान्त्वना के लिये अपना हृदय आगे बढ़ाएँ। उनकी इस शैली में वैयक्तिकता की गहरी छाप लगी रहती है। जैसे—

"मैं बड़ा प्यासा था। हार कर आ रहा था। शरीर और मन दोनों चुटीले हो रहे थे, कलेजा उबल रहा था और हृदय झुलस रहा था। मैं अपनी राह जा रहा था। मुझे आशा न थी कि बीच में कुछ मिलेगा। पर मिल गया। संयोग की बात देखो कैसी अद्भुत हुई। और समय होता तो मैं उधर नहीं देखता। मैं क्या भिखारी हूँ या नदीदा हूँ जो राह चलते पड़ी वस्तु पर मन चलाऊँ। पर वह अवसर ही ऐसा था। प्यास तड़पा रही थी—गर्मी मार रही थी और अतृप्ति जला रही थी। मैंने कहा—ज़रा सा इनमें से मुझे मिलेगा। भूल गया कहा कहाँ? कहने की नौबत ही न आई—कहने की इच्छा मात्र की थी। पर उसी से काम सिद्ध हो गया। उसने आँचल में छान प्याले में उड़ेला—एक उली मुसकान की मिश्री मिलाई और कहा—लो, फिर भूला, कहा सुना कुछ नहीं। आँचल

में छानकर प्याले में डालकर, मिश्री मिलाकर सामने धर दिया। चम्पे की कलियाँ उसी में पड़ी थीं—महक फूट रही थी। मैं ऐसी उदासीनता से किसी की वस्तु नहीं लेता हूँ—पर महक ने मार डाला। आत्म-सम्मान, सभ्यता, पद-मर्यादा सब भूल गया। कलेजा जल रहा था—जीभ ऐंठ रही थी। कौन विचार करता? मैंने दो कदम बढ़कर उसे उठाया और खड़े ही खड़े उसे पी गया—हाँ खड़े ही खड़े।

"वह फिर एक बार मिला। संध्या काल था और गंगा चुपचाप बह रही थी। वह चाँद सी रेती में फूल जमा-जमा कर कुछ सजा रहा था। मैं कुछ दूर था। मैंने कहा आ मेरे पास आ। मैं गया। वहाँ की हवा सुगंधों से भर रही थी। मैं कुछ ठंडा सा होने लगा। उसके चेहरे पर कुछ किरणें चमक रही थीं। मैंने कहा—"बिटुआ! धूप में ज्यादा मत खेलो।" उसने हँस दिया। सुंदरता लहरा उठी। उसने एक फूल दिखाकर कहा—"अच्छा इस फूल का क्या रंग है?" मेरा रक्त नाच उठा। अरे, बेटा बोलना सीख गया। मैंने लपक कर फूल उसके हाथ से लेना चाहा—वह दूर दौड़ गया। उसने कहा—"ना इसे छूना नहीं। इस फूल को दुनिया की हवा नहीं लगी है और न इसकी गंध इसमें से बाहर को उड़ी है। ये देव-पूजा के फूल हैं—ये विलास की सजाई में काम न आवेंगे।" इतना कहकर बिटुआ गंगा की ओर दौड़कर उसी में खो गया। मैं कुछ दौड़ा तो—पर पानी से डर गया। इतने में आँखें खुल गईं।"

उपरोक्त उद्धरण में भाषा-माधुर्य के साथ धारा-प्रवाह का बड़ा सुंदर सम्मेलन हुआ है। मधुरता के लिये लेखक शब्द तक बिगाड़ने को तैयार है। उसने शब्दों को तत्सम रूप में रखने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं समझा है। चलतेपन

के लिये वह सब कुछ करने को उद्यत है। हिंदी-उर्दू का मिला-जुला जो रूप हम श्री प्रेमचंद्र की रचनाओं में पाते हैं उसी का आनंद यहाँ भी मिलता है। लेखक इस प्रकार लिखने में सिद्ध-हस्तता प्राप्त कर चुका है। वहाँ उसका साम्राज्य है। चलती, सरल तथा बोधगम्य भाषा में भावों की लड़ी किस प्रकार पिरोनी चाहिए इस बात को शास्त्रीजी भलीभाँति जानते हैं। जिस प्रकार भावावेश हृदय में उत्पन्न होता है उसी प्रकार, उसी स्वाभाविक रूप रंग में उसे शब्दांतर्गत उपस्थित करने में, वाक्यों को इधर-उधर तोड़ ताड़ कर तथा अनेक चिह्नों का सहारा लेकर वाक्य-विन्यास करना पड़ता है। यही कारण है कि इनकी रचना में विरामादि चिह्नों की अधिकता रहती है।

शास्त्रीजी ने स्थान-स्थान पर विभक्तियों को छोड़ भी दिया है। यह उनका या तो सिद्धांत हो या प्रमाद। जैसे—"मैं क्या भिखारी हूँ जो राह चलते रस्ते पड़ी वस्तु पर मन चलाऊँ।" "पराए सामने सदा संकोच से रहता था" इत्यादि। या तो 'रस्ते पड़ी वस्तु' के बीच में सम्मेलन चिह्न रखा जाय अथवा 'रस्ते पर पड़ी हुई वस्तु' लिखा जाय और 'पराए' तथा 'सामने' के बीच में 'के' हो। ऐसा करने से भाषा का सौष्ठव नष्ट होता हो सो बात नहीं है। कहीं-कहीं वाक्य-पूर्णता की आकांक्षा भी अप्रयोजनीय है। जैसे—"किसी को मुँह नहीं दिखाता हूँ, पर लज्जा फिर भी पीछा नहीं छोड़ती है। छिपकर रहता हूँ, पर मन में शांति नहीं है। दिन रात भूलने की चेष्टा करता हूँ पर फिर भी स्मृति की गंभीर रेखा मिटती नहीं है।" इन

वाक्यों में अंत का "है" व्यर्थ है। इससे भाषा में लचर-पन आ जाता है। उसका धारा-प्रवाह नष्ट हो जाता है। इन बातों के अतिरिक्त वाक्य-विन्यास में कहीं-कहीं अँगरेजी-पन भी स्पष्ट पाया जाता है। "राई की प्राप्ति को पहाड़ परिश्रम करते हो" (To gain a little you work a mountain); इत्यादि। ऐसे स्थल प्रमाद स्वरूप ही हों, ऐसी बात नहीं। परंतु इसके लिये लेखक को विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता नहीं। ऐसी बातें स्वाभाविक होती हैं। इसके लिये विशेष नियंत्रण रखने से भाषा-शैली में कृत्रिमता के आ जाने की संभावना रहती है।

इनकी प्राय: सभी रचनाओं में शब्दों के कुछ प्रांतीय रूप मिलते हैं। लेखक जिस स्थान विशेष का है उसी के आस-पास में शब्दों का जिस रूप में व्यवहार होता है, उसी को वह साहित्य में भी रखना चाहता है। वस्तुत: यह उचित नहीं, क्योंकि शब्दों का वही रूप साधारण भाषा में ग्राह्य होना समीचीन है जो अधिकांश भाग में प्रयुक्त हो। इन्होंने 'तिस पीछे' और 'सो' इत्यादि पंडिताऊपन के शब्दों और रूपों के सिवा कितने ऐसे शब्दों का भी व्यवहार किया है जो संभवत: उनके आस-पास के प्रदेशों में प्रचलित हैं। 'खुल्ला', 'भोंरे', 'टूटना', 'बुरक', 'भींचे', 'धकेलना', 'जाये' (जाकर), 'भिड़-तितैया', 'दियासलाई', "बेटा! कला को देखना तो आज वह कैसा कुछ करती है।" इत्यादि अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका व्यवहार प्रदेश विशेष तक ही परिमित है। इसके अतिरिक्त शब्दों के प्रयोग में अस्थिरता नहीं होनी चाहिए, जैसा कि इन्होंने किया है। यदि 'पर्वा' लिखा जाय तो 'परवा' न लिखा

जाय अथवा 'लच्छन' लिखा जाय तो 'लक्खन' न प्रयुक्त हो; क्योंकि इससे शब्दों का निश्चयात्मक रूप व्यवस्थित नहीं रह सकता।

वस्तु प्रतिपादन की आलंकारिक-प्रणाली में इन्होंने भी 'मानो', 'की तरह', 'जैसे', 'वैसे', का अधिक अनुसरण किया है। परंतु इनकी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में वह लोकातीत वैभव नहीं रहता जो 'प्रसाद' जी अथवा 'राय साहब' में मिल चुका है। इनकी रचना में जगत् की व्यावहारिक सत्ता का आभास सदैव विद्यमान रहता है। इनकी उत्प्रेक्षाएँ और उपमाएं इतनी परिचित रहती हैं कि उनका दर्शन हम नित्य की घटनाओं में पाते रहते हैं। वास्तव में रचना-प्रणाली की सरलता एवं व्यावहारिकता के साथ इसी प्रकार की उपमाओं का सामंजस्य अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इससे भाषा की स्वाभाविकता नष्ट नहीं होती। 'प्रसाद' जी अथवा 'राय साहब' में उनके विषय के अनुकूल ही अलंकारत्व भी रहता है। इसका क्षेत्र कल्पना का है। परंतु शास्त्रीजी व्यवहार-जगत् के हैं। अतः समानता का प्रतिरूप उपस्थित करने में उनकी दृष्टि उन्हीं वस्तुओं पर पड़ती है जो वस्तुतः हमारे साधारण जीवन में प्राप्य हैं। जैसे—"मानो तंग कोठरी की क़ैद से निकलकर स्वच्छ हरे-भरे मैदान में आ गया हूँ।" "जैसे लहर लीन हो जाती है, जैसे स्वर लीन हो जाता है।" "जैसे सूर्य पृथ्वी के रस को आकर्षण करके संसार पर वर्षा करता है, वैसे ही धन, धर्म, धान्य, जन सबको आकर्षण करूँगा और पुनः विसर्जन करूँगा।" "इस तरह मरे बैल की तरह क्यों आँख निकालता है?" "तबला दुख से मानो हाय! हाय! कर उठा।"

"प्रवीण को ऐसा मालूम हुआ कि जैसे वह सब आँखें फाड़ फाड़कर उसी की तरफ़ झाँक रहे हैं।" "वह मशीन की तरह माता का सिर गोद में रखकर बैठे रहे।" "देखते ही देखते वह मुर्दे की तरह सफ़ेद हो गया।" "मर्माहत सर्पिणी की तरह", "युद्ध में हारे राजा की तरह", "पनाले की तरह वह निकला", 'जिस तरह' और 'उसी प्रकार' का प्रयोग उन स्थानों पर अस्वाभाविक दिखाई पड़ता है जहाँ पर अँगरेज कवि होमर की भाँति उपमाएँ आई हों। वाक्य के अंत तक पहुँचते पहुँचते प्रस्तुत वस्तुएँ भूल जाती हैं। जैसे—"जिस तरह इंद्रियों के पास जिह्वालोलुप अन नाना प्रकार के मिर्च-मसाले आदि अप्राकृत पदार्थ खाकर और तरह तरह के मिथ्या आहार विहार करके अनेक जाति के रोगोन्मूलक परमाणुओं को शरीर में बसाकर रोगी हो जाते हैं और जुलाब देकर जिस प्रकार उनके शरीर से समस्त दूषित पदार्थ निकाले जाकर शरीर शुद्ध और निर्मल किया जाता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य-समाज ईर्ष्या, द्वेष, अज्ञान और स्वार्थवश जब अनेक बुराइयों से परिपूर्ण हो जाता है, तब क्रांति का जुलाब देकर उसे विशुद्ध और सरल बनाकर फिर नए सिर से व्यवहार जारी किया जाता है।" इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर नाटकीय कथोपकथन की स्वाभाविकता उपस्थित करने के विचार से इन्होंने वाक्य-विन्यास में भी उलट-फेर किया है। इससे कथानक का विवरण देने में स्वाभाविकता पाई जाती है। कथोपकथन की स्वाभाविकता के अतिरिक्त उसमें बल-विशेष लाने का विचार भी रखा गया है। जैसे—"आने दो भविष्य के धवल महल को", "यह दस्तावेज है हमारी गदा", "तुम क्या जाग्रत रहते हो इस वसंत

में"; "गया कहाँ है वह बदमाश, लंपट ?" "वह मैंने तुम्हें सँभाल दी थी—जैसे चिड़िया अपने बच्चे को वृक्ष के खोखले में रखती है।" "किस लोक की तरफ़ तुम्हारा लक्ष्य है ?" इत्यादि। इस प्रकार का वाक्य-विन्यास का परिवर्तन कथोपकथन में बड़ा ही उपयुक्त एवं रुचिकर जँचता है।

शास्त्रीजी की प्रायः सभी रचनाओं में धारावाहिकता का प्रसार अच्छा मिलता है। इनका प्रत्येक वाक्य एक दूसरे से इस प्रकार संबद्ध रहता है कि किसी को पृथक् करने से भाव-शृंखला छिन्न भिन्न हो जाती है। कहीं कहीं एक ही बात भिन्न भिन्न कई वाक्यों में इस प्रकार लिखी जाती है कि ओज-विशेष उत्पन्न हो जाता है। उससे पढ़ने सुनने में बड़ा बल ज्ञात होता है। जैसे—"परमान, सम्मान और गौरव देकर क्या पाया।" "वे अमर हैं, प्रबल हैं और अमोघ हैं।" "जो तेजस्वी हैं जो मानधनी हैं, वे अपने झोपड़े में अपनी ही चटाई पर सुख से सो सकते हैं।" "राजा को देखकर हज़ारों सेनाएँ अपनी बंदूकें नीची कर लेती हैं, हज़ारों सशस्त्र सिपाही सिर झुकाकर भेड़ की तरह अपने सेना-नायक की आज्ञा पालते हैं। असंख्य प्रजा राजा को देखकर सिर झुका लेती है।" "कैसी घृणा, कैसी लज्जा, कैसी ग्लानि और कितनी कमीनी बात है।" इत्यादि। इसके अतिरिक्त एक प्रधान विशेषता यह है कि इनकी रचनाओं में वक्तृत्व अधिक पाया जाता है। इससे विषय प्रतिपादन में अपूर्व चमत्कार आ जाता है। बल बढ़ता है और बढ़ती है कांति और सुष्ठुता। बलवती भाषा में और छोटे छोटे वाक्यों में किस प्रकार विषय का प्रभावात्मक निदर्शन एवं विधान होता है यह निम्नांकित अवतरणों से स्पष्ट हो जायगा।

"बड़ा सुख है, अब रात दिन चाहे जब रो लेता हूँ। कोई सुननेवाला नहीं, देखनेवाला भी नहीं। सन्नाटे की रात में नितांत दूर टिमटिमाते तारों के नीचे, स्तब्ध खड़े काले-काले वृक्षों के नीचे घूम घूमकर मैं रात भर रोता हूँ। यह मेरा अत्यंत सुखकर कार्य है। इसमें मेरा बड़ा मन लगता है। और इस पवित्र रुदन के लिये स्थान उपयुक्त भी है। निकट ही गीदड़ रो रहे हैं। कुत्ते भी कभी कभी रो पड़ते हैं। घुग्घू बीच बीच में रोने का प्रयत्न करता है। परंतु मेरे रोने का स्वर तो कुछ और ही है, वह अंतस्तल की प्राचीन भित्ति को विदीर्ण करके एक नीरव लहर उत्पन्न करता हुआ नीरव लय में लीन हो जाता है। उसे देखने की सामर्थ्य किसमें है। नींद अब नहीं आती। दो महीने रात-दिन रोता रहा हूँ। अब नींद से हिसाब साफ़ है। हाँ, चटाई पर औंधा पड़ जाता हूँ और आँख बंद कर चुपचाप सुनने की चेष्टा करता हूँ। तब रात्रि के गंभीर अंधकार को विदीर्ण कर एक अस्फुट ध्वनि सुनाई पड़ती है। और मैं विवश होकर उसमें स्वर मिलाकर विहाग या मालकोश की रागिनी में रुदनगान करने लगता हूँ। आँसुओं के प्रवाह में रात्रि भी गलने लगती है। तब हठात् वह उसी विमल परिधान में आती है और पहले जैसे वह बलपूर्वक मेरे कागज-पत्र उठाकर मुझे सोने पर विवश करती थी, उसी तरह मेरे उस संगीत को उठाकर रख देती है। पर हाय! अब मैं सो नहीं सकता। आँख फाड़कर देखता हूँ तो अकेला रह जाता हूँ। मैं शेष रात्रि इस वृक्ष से उस वृक्ष के नीचे घूम घूमकर काट देता हूँ।"

"साहित्य की मूल भित्ति है हृदय और उसके निकाल के प्रपात का स्थल है मस्तिष्क। हृदय में आंदोलन उत्पन्न करके मस्तिष्क की सूक्ष्म विचार-धाराओं का संचालन करना साहित्य का कार्य है। यही तो मानव जीवन का उत्कर्ष है—पशु और मनुष्य में यही तो अंतर है।

पशु साधारण शरीर की आवश्यकताओं का अनुभव करके जीवन की सभी चेष्टा करता है। परंतु मनुष्य मस्तिष्क की विचार-धाराओं से आंदोलित होकर जीवन की उन प्रक्रियाओं को भी करता है, जिनसे वास्तव में उनकी शरीर-संपत्ति का कोई वास्ता ही नहीं है। इसलिये किसी भी जाति या समाज का साहित्य देखकर हम स्थूलता से इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि वास्तव में वह जाति मनुष्यत्व की कसौटी है। और केवल कसौटी ही नहीं, वह जाति के उत्थान और पतन का एक प्रबल कारण भी है। साहित्य जातियों को वीर बनाता है, साहित्य ही जातियों को क्रूर, नीच, कमीना, पापी, पतित बनाता है। इसलिये प्रत्येक जाति के विद्वानों के ऊपर इस बात का नैतिक भार है कि अपने साहित्य पर कठोर नियंत्रण कायम रक्खें, उसे जीवन से भी उच्च, पवित्र एवं आदर्श बनाए रक्खें।"

शिवपूजन सहाय

भाषा अथवा भाषा-शैली पर देश-व्यापी आंदोलन का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। राजनीतिक उथल-पुथल में अनेक प्रकार के आचार विचार का समावेश रहता है। किसी भी आंदोलन में भावनाओं की उधेड़-बुन, निदर्शन और नवीन विचारों की आलोचना एवं प्रतिपादन होता है। इन आंदोलनों की जैसी प्रगति होती है, उसमें अन्तर्निहित जैसी विचार-धारा रहती है, उसी के अनुरूप 'प्रचार की' भाषा भी आवश्यक होती है। हम इसके पूर्व ही देख चुके हैं कि आर्य-समाज के प्रचार का प्रभाव हमारी हिंदी भाषा पर कितना पड़ा है। वह प्रभाव अच्छा था या बुरा इसका विवेचन इस स्थल पर प्रयोजनीय नहीं। उस समय वाद-विवाद, तथ्यातथ्य-निरूपण, तथा वितंडवाद ही प्रधान था। यही कारण था

कि उस समय की प्रचलित शैली में इसका प्रभाव स्पष्ट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कथन की युक्तिपूर्ण प्रणाली—जिसमें तर्क की विशेष मात्रा मिश्रित रहती थी—साधारणतः उस समय के लेखक में प्राप्त होती है।

आर्य-समाज के आंदोलन से भी कहीं विशद एवं देश-व्यापी आंदोलन उपस्थित हुआ असहयोग का। इसमें दीनों का आर्त-नाद मिश्रित था; पीड़ितों की हाय, अन्न-वस्त्र से दुखी देश-वासियों की तड़प, दासता की बेड़ियों से मुक्ति चाहनेवालों का गगन-भेदी चीत्कार दूर-दूर तक प्रतिध्वनित हुआ। आंदोलन को व्यापक बनाने के विचार से सभाएँ और वक्तृताएँ होने लगीं। समाज में आवेश आया। बहुत सी रूढ़िगत भावनाओं का निराकरण प्रारंभ हुआ; और उपस्थित हुई नवीन ज्योति, उत्साह और बल अपने कथन को प्रभावशाली बनाने के विचार से कठोर से कठोर तथा उग्र से उग्र शब्दों का प्रयोग भाषा में बढ़ने लगा। वस्तु प्रतिपादन की शैली में, कथोपकथन में, वाद-विवाद में, तथा विवरण उपस्थित करने में सर्वत्र ही उग्रता और निर्भीकता का भयंकर तांडव-नृत्य आरंभ हो गया। साधारण से साधारण विषय भी बड़े जोर शोर के साथ लिखे जाने लगे। भाषा-शैली साधारणतः वक्तृत्व से ओतप्रोत हो गई। इस वक्तृत्व का शीघ्र ही इतना प्रसार हुआ कि साधारण लेखों में, कथा-कहानियों में, नाटक और आलोचना में—सभी स्थानों में—इसकी छाप बैठ गई। इस शैली विशेष के प्रतिनिधि स्वरूप बाबू शिवपूजन सहाय और पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' लिए जा सकते हैं।

इनमें से बाबू शिवपूजन सहाय की भाषा में विशुद्धता का विचार अधिक पाया जाता है। स्थान स्थान पर उर्दू शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इस प्रकार की शब्दावली अधिकतर मुहावरों की लपेट में आ गई है। अथवा उन स्थानों पर भी इनका प्रयोग पाया जाता है जहाँ लेखक को चलतापन लाने का विचार रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर अधिकांश व्यापक विशुद्धता का ही निर्वहन पाया जाता है। इन स्थलों पर विशुद्धता के अतिरिक्त भाषा-सौष्ठव बड़ा सुंदर बन पड़ा है। उसमें माधुर्य एवं ओज का अपूर्व सम्मेलन स्थापित दिखाई पड़ता है। प्रांतीयता का प्रभाव इनकी भाषा-शैली में तनिक भी न मिलेगा। साधारणतः शैली परिष्कृत, सतर्क तथा परिमार्जित है। इनमें विषय के अनुकूल भाषा का उपयोग करने की अच्छी कुशलता है। यही कारण है कि इनकी रचनाओं में चमत्कार के साथ-साथ आकर्षण और प्रभाव रहता है।

भाषा की उत्कृष्टता के साथ-साथ अलंकारिकता का अच्छा सम्मिश्रण मिलता है। 'ऐसे', 'जैसे', और 'सी', 'मानो', का मनोरम उपयोग दिखाई पड़ता है। इनका प्रयोग कहीं-कहीं तो इतना चमत्कारपूर्ण हुआ है कि रचना से काव्यात्मक ध्वनि निकलती जान पड़ती है। सादृश्य विधान भी अधिकांश इस उद्देश से किए गए नहीं जान पड़ते कि उनके द्वारा काल्पनिक वैभव व्यक्त हो वरन् इसलिये कि साधारण नित्य के अनुभव से संबंध रखनेवाली बातों के मेल से अनुभूति तीव्र और स्पष्ट हो। यही कारण है कि 'सी' और 'मानो' के उपरान्त इतनी सरल उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ

इनकी रचनाओं में प्राप्त होती हैं कि उनके हृदयंगम करने में पांडित्य तथा विशिष्टता की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी अलंकार-प्रवृत्ति में इनकी रचना-शैली में अनुप्रासों की प्रचुरता उपस्थित की है। परंतु अनुप्रास के प्रयोग में बनावटीपन नहीं झलकता वरन् प्रवाहगत स्वाभाविकता पाई जाती है। इससे भाषा में सौंदर्य एवं माधुर्य आ गया है। यह अनुप्रासयुक्त भाषा किसी समय या स्थल-विशेष पर मिलती हो ऐसी बात नहीं है। यह व्यापक रूप में एक सी प्राप्त होती है। जैसे—"खिड़की से छन-छन कर आनेवाली चाँद की चटकीली चाँदनी में चूड़ावत-चकोर को आपे से बाहर कर दिया।......नए प्रेम-पाश का प्रबल बंधन प्रतिज्ञा-पालन का पुराना बंधन ढीला कर रहा है। चूड़ावतजी का चित्त चंचल हो उठा। वे चटपट चंद्रभवन की ओर चल पड़े। वे यद्यपि चिंता में चूर हैं, पर चंद्रदर्शन की चोखी चाट लग रही है। वे संगमर्मरी सीढ़ियों के सहारे चंद्र-भवन पर चढ़ चुके, पर जीभ का जकड़ जाना जी को जला रहा है।" "लड़ाई की ललकार सुनकर लँगड़े-लूलों को भी लड़ने-भिड़ने की लालसा लग जाती है", "उज्ज्वल धारा से धोए हुए आकाश में चुभनेवाले कलश, महलों के मुँडेरों पर मुसकुरा रहे हैं।" "बंदीवृंद विशद विरुदावली बखानने में व्यस्त हैं।" "शूर-सामंतों की सैकड़ों सजीली सेनाएँ साथ में हैं सही।" "नव-पल्लव-पुष्प गुच्छों से हरे-भरे कुंज-पुंजों में वसंत-बसीठी मीठी मीठी बोलती और विरह में विष घोलती थी। मधुर-मधुमयी माधवी लता पर मँडराते हुए मकरंद-मत्त-मधुकर, उस चराचर मात्र में नूतन-शक्ति

संचालन करनेवाले—जगदाधार का गुन-गुनकर गुण गाते थे। लोनी लतिकाएँ सूखे-सूखे वृक्षों से भी लिपट रही थीं। वसंत-वैभव ने उस वन को विभूतिशाली बना दिया था।" इत्यादि। इस प्रकार के अवतरण उद्योग के साथ उपस्थित किए जा सकें यह नहीं है। सर्वत्र ही इस प्रकार की अनुप्रासपूर्ण भाषा मिलेगी।

इस सानुप्रासिकता तथा विशुद्धता के व्यवहार का जो परिमाण होता है वह भी इनमें विशेष मिलता है। दीर्घ समासांत पदावली उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ती है। अपने स्थान पर यह अनुचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि रचना-प्रणाली के साथ इनका अच्छा साम्य ठहरता है। 'सौंदर्य-गरिमा-मय-मुखारविन्द', 'मल्लिका वल्लरी वितानों,' 'अलि-अवलि-केलि-लीला', 'मंजुल मंजरी-कलित तरुवर की शाखाओं पर शान से तान का तीर मारने-वाली काली-कलूटी कोयल, पल्लवावगुंठन में मुँह छिपाए बैठी हुई, इस अनुरूपा सुंदरी को देख रही थी। शीतल-सुरभित समीर विलुलित अलकावली तीर डोल-डोलकर रस घोल जाता था। चंचल-पवन अंचल पर लोट-लोटकर अपनी विकलता बताता था। धीरे-धीरे कुंचित-कुंतलराशि, नितंबावरोहण करती हुई, आपाद लटक रही थी। यद्यपि निराभरण शरीर पर केवल एक वस्त्र ही शेष था, तथापि वह शैवाल-जाल-जटित सुंदर सरोजिनी सी सोहती और मन मोहती थी।"

उसी उत्कृष्ट विशुद्ध एवं समासांत पदावली में जब काल्पनिक-वैभव का सम्मिश्रण हो जाता है तब शैली में एक अटूट धारा बह चलती है। कहीं-कहीं इस प्रकार के आलंकारिक

उल्लास से मन ऊब जाता है और वाक्य के अंत तक पहुँचते पहुँचते भाव-शृंखला छिन्न भिन्न हो जाती है। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएँ पढ़ते समय अधिक निग्रह और चिंतन के कारण कष्ट का अनुभव होने लगता है। जैसे—"वह अप्रतिमा प्रतिमा, वसंत काल की नव किसलय कलित रसाल द्रुमावली सी वह प्रतिमा, प्रभातकालीन मलय-मारुत से ईषत् दोलायमाना मंद स्मित नवनलिनी की सी वह प्रतिमा, वासंती संध्या-समीरण-जनित गंगा की कृश कल्लोल-मालिका की सी वह प्रतिमा, जयदेव की कोमल कांत पदावली सी वह प्रतिमा, शोण-सैकत-शय्या पर लेटी हुई सद्य-उदित सूर्य की किरणों की सी वह प्रतिमा, श्रावण की जल प्लावित शस्य-श्यामला वसुंधरा की सी वह प्रतिमा, नवोढ़ा कृषक-ललना के करतल विराजित नव-शालि-वालि-पुंज की सी वह प्रतिमा, अर्जुन के प्रति स्वर्गीय वारांगना उर्वशी की सी मधुर-कटाक्ष-पात पूर्वक विनीताभ्यर्थना की सी वह प्रतिमा, मरुस्थल के श्रांत एवं तृषित पथिक के लिये सजला-सरसी-दर्शन की सी प्रतिमा, दुष्यंत के प्रति शकुंतला की निरंतर चारुचिंता सी वह प्रतिमा, कार्तिक मास की दीपावली से नख-शिखमंडिता काशी की गंगा-तटस्थ आकाश-चुम्बिनी प्रासाद-प्रणाली सी वह प्रतिमा, भाद्रपद के नीरव-निशीथ काल में वर्षा-वारि-विलोड़िता खर-स्रोत-सरिता की दूरागत कल-कलध्वनि की सी वह प्रतिमा, कुसुमित दांपत्य-प्रेम-पादप के प्रथम फल की आशा की सी वह प्रतिमा, पुष्पोद्यान में प्रथम बार रामचंद्र-दर्शन से मैथिली के मानस-मंदिर में प्रकट हुई अलौकिक प्रीति-ज्योति की सी वह प्रतिमा, लावण्य-लीला-विलासिणी नववधू के मित मिष्ट-भाषण की सी वह प्रतिमा।"

इस प्रकार आलंकारिक विशदता की इतनी लंबी लड़ी नहीं तो छोटी-छोटी लड़ियाँ प्रायः मिलेंगी।

इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं पर पद्यात्मक तुकांत भी उपलब्ध होता है। यह तुकांत वस्तुतः उस प्रकार का नहीं होता जो हमें श्री लल्लूलालजी और सैयद इंशा में प्राप्त हुआ था। उसमें प्राचीनता की छाप थी, परंतु इसमें भाषा की प्रगल्भता पाई जाती है। इसमें मनोरंजक चमत्कार दिखाया गया है। इस तुकांत का जहाँ परिमित रूप में व्यवहार हुआ है वहाँ पर स्वाभाविक और सुंदर लगता है। जैसे—'सतीत्व-रक्षा के लिये जरा-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवाई ज़रूर, लेकिन उसने जो कीर्ति कमाई और बधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में नहीं समाई।' परंतु वही तुकांत जब विस्तृत रूप में रखा जाता है तब अस्वाभाविक और भद्दा लगने लगता है। जैसे—"यह संसार असार है, ऐसा वेदांतियों का विचार है। उनके लिये ईश्वर भी निराकार है; किंतु हमारे साहित्य-संसार का ईश्वर साकार है। ज्ञानियों का संसार भाषा का बाज़ार है, हम साहित्यिकों का संसार अमृत का भांडार है। उनके लिये संसार कारागार है, हम लोगों के लिये करुणावतार का लीलागार है। उनके लिये शृंगार दुराचार है, हम लोगों के लिये वह गले का हार है—अलंकार है। उधर ओंकार का आधार है, इधर नंदकुमार का आधार है। बड़ा ही विचित्र व्यापार है।"

इधर भाषा-शैली के उत्कर्ष के साथ-साथ विरामादिक चिह्नों का प्रयोग अधिक होने लगता है। इनका आधार लेकर तरह-तरह की भावनाओं का, कई रूप से निदर्शन होने लगा।

अँगरेजी में The book, however, came to the Press लिखा आता है। "हाँ, अब, जब कि यह पुस्तक, किसी न किसी रूप में—प्रकाशित हो गई, तब संभव है, कभी सौभाग्यवश विद्वानों की दृष्टि इस पर पड़ जाय।" इस वाक्य में भी "किसी न किसी रूप में" दो संबंधात्मक-चिह्नों के बीच में उसी प्रकार रखा गया है, जिस प्रकार अँगरेजी का 'However' दो अर्ध-विरामों के बीच में रखा गया है। अब चिह्नों का सहारा लेकर भाव-व्यंजना बड़ी विशदता से होने लगी है। श्री शिवपूजन सहाय और श्री पांडेय बेचन शर्मा में इस प्रकार की व्यंजनात्मक विशदता अधिक पाई जाती है। भावावेश की स्वाभाविक प्रगति के प्रदर्शन में इन चिह्नों ने बड़ा योग दिया है। इन्हीं चिह्नों के सहारे एक शब्द का प्रयोग कर ठीक उसके उपरांत उसी भाव का दूसरा शब्द, दो संबंध चिह्नों के बीच में, रखकर पहला शब्द और भी अधिक प्रभावात्मक बनाया जाता है। वस्तुत: यह चिह्न और का काम कर देते हैं। जैसे—"साहित्य-रसिकों के रसास्वादन—मनोरंजन—के लिए।" इसी भाँति कहीं-कहीं गुणवाचक पदावली भी रखी जाती है। जैसे—"प्रार्थना-पत्र, ब्राह्मण-देवता ने, राणा जी को—भक्तिभाव-पूर्वक प्रणाम के हेतु जोड़ी गई—अंजली में, उनका कल्याण मनाते हुए छोड़ दिया।"

इन चिह्नों के सहारे एक ही प्रकार के कई भाव व्यक्त करने के लिये कई शब्दों अथवा पदों का यथाक्रम रखने का बड़ा रोचक एवं प्रभावात्मक ढंग प्रचलित हुआ है। इसमें बड़ी विशदता और शक्ति प्राप्त होती है। पूर्व-प्रचलित तार्किक-शैली में इतनी उत्कृष्टता नहीं पाई जाती थी। इस शैली के

द्वारा बड़े ही प्रबल रूप में उत्साह, बल, पौरुष आदि का दीर्घ प्रवाह व्यक्त हो सकता है। जैसे—"जिस मेवाड़ की मान-मर्यादा बचाने के लिये, हमारी माताओं ने, अपनी गोद के लाखों लाल लुटा दिए हैं, उसी मेवाड़ की गौरवान्वित गद्दी को सनाथ करनेवाला, राणा हमीर और राणा साँगा तथा हिंदू-कुल-सूर्य प्रताप का वंशधर, क्या राज्यनाश के भय से, जंगलों में भटकते फिरने की शंका से, शरण में आई हुई एक अबला को आत्मघात करने का अवसर देगा? यदि ऐसा होगा तो उसी दिन वीररक्ताभिषिक्त मेवाड़-भूमि रसातल में पैठ जायगी, सूर्य्य चक्कर खाकर डूब जायगा, भूमंडल भी—तूफ़ान से घिरे हुए जहाज़ की तरह—डगमगा उठेगा, तारे एक से एक टकराकर चूर्ण हो जायँगे, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर भूलोक को डुबो देगा, चाँद से चिनगारियाँ बरसने लगेंगी, और अरवली का हृदय, भीषण ज्वालामुखी के प्रस्फोट से, एकाएक फट पड़ेगा।" अथवा "यदि कृष्णा-कुमारी सी अविरल सुंदरी के लिये आठ-आठ आँसू रोने की इच्छा हो, उसकी स्नेह-शीला माता के दारुण-करुण-विलाप-कलाप से कलेजा कँपाना हो, यदि कल्पद्रुम-कुसुम-माला-मंडिता स्वर्ग-प्रतिमा का अकाल विसर्जन होकर दिल दहलाना हो, तो आइए, किंतु उदयपुर के रनिवास में चलकर, एक हृदय-द्रावक दृश्य देखने के लिये पहले हृदय को वज्र से मढ़ लीजिए।" अथवा "उसका हृदय, तुम्हारे कुसुम-सुकुमार अंग से भी कोमल, तुम्हारी विलास-लीला से भी मधुर, तुम्हारी श्वास वायु से भी सुगंधित और तुम्हारी दाड़िम-दंतावलि से भी उज्ज्वल था।"

यों तो इन्होंने स्थान-स्थान पर इतिवृत्तात्मक विवरण देने में भी भाषा की विशुद्धता एवं समासांत पदावली का व्यवहार किया है, परंतु वहाँ वह स्वाभाविकता नहीं मिलती जो उनके उस विवरण में प्राप्त होती है। इसमें वस्तुतः सरल एवं व्यावहारिक प्रणाली का अवलंबन किया गया है। ऐसे स्थलों पर वाक्य भी छोटे-छोटे लिखे गए हैं। सभी स्थानों पर इसी विषय का निर्वाह हुआ हो यह आवश्यक नहीं। क्योंकि ऐसे भी स्थान अवश्य हैं जहाँ इन्होंने साधारण विवरण देने में भाषा का वही रूप रखा है जो कि प्रायः उनकी भावावेश की शैली में पाया जाता है। परंतु उन स्थानों में वह रोचकता तथा व्यावहारिकता नहीं मिलती जो उन विवरणों में अधिकता से प्राप्य है जिन्हें वे छोटे-छोटे वाक्यों में और चलती भाषा के सहयोग से देते हैं। जैसे—

'पंजाब मेल का अव्वल दर्जा भी स्वर्ग का नमूना ही है। जैसे गंगा और हिमालय का मानचित्र पुस्तकों में वैसे ही पंजाब मेल के अव्वल दर्जे में बहिश्त का नक़्शा मौजूद है। उसे अलकापुरी या अमरावती का नमूना कहना कोई बेजा बात नहीं है। हीरालाल बाबू को अव्वल दर्जे में चढ़ाकर हमने इंजन से गार्ड के डब्बे तक दो दो बार चक्कर लगाया। हर एक खाने की चीज़ों पर दुहरी, पर गहरी नहीं, नज़र डालते हुए हम चक्कर काट रहे थे। बिजली-बत्तियां जल रही थीं। बिजली के पंखे दनादन चल रहे थे। खिड़कियों की राह जितनी आँखें स्टेशन की ओर झाँकती थीं, सब पर सुनहरी कमानीवाले चश्मे चढ़े थे। कुछ साहेब, झालरदार साफ़ तकियों के सहारे कमर के बल टेककर समाचारपत्रों के पन्ने उलट रहे थे। किसी के दिमाग़ में 'एमडन' तैर रहा था। किसी के दिमाग़

में दमदम की गोलियाँ दनदना रही थीं और कोई 'हाविटज़र' तोप के गोलों की गड़गड़ाहट सुन रहा था। एक अँगरेज़ युवती, जिसके सुनहरे बालों में बनावटी गुलाब के फूल गुंफित थे, एक अँगरेज़ युवक के साथ, हाथ में हाथ मिलाकर, टहल रही थी। कभी दोनों हँसते-हँसते अपनी-अपनी घड़ियाँ मिलाते थे; और कभी अपने-अपने चश्मे अदल-बदल परस्पर आँखों पर आँखें चढ़ाते थे।"

ऊपर कहा जा चुका है कि असहयोग आंदोलन का जो व्यापक प्रभाव हिंदी-साहित्य पर पड़ा उसी का सम्यक् प्रसार पांडेय बेचन शर्मा की रचनाओं में भी मिलता है। जिस उत्तेजनापूर्ण और प्रभावात्मक भाषा और शैली में राजनीतिक वितंडावाद किया जाता है उसी का अनुसरण पांडेयजी अपनी सभी रचनाओं में करते हैं। इन रचनाओं को पढ़ते समय स्वभावतः वक्तृत्व का चमत्कार प्राप्त होता है। परंतु वस्तुतः विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करने पर वह वक्तृत्व का रूप नहीं ठहरता। वह कथन-प्रणाली का केवल शक्तिशाली रूप है। एक ही साँस में समस्त भावावेश को कह डालने की एकांत चेष्टा में निरंतर आवेश झलकता है। सभी वाक्य इतने तुले हुए रहते हैं कि शैली में सुंदर ज्योति प्रकट हो जाती है। एक वाक्य दूसरे वाक्य पर इस प्रकार आश्रित रहता है कि बीच में एक-दो वाक्य अलग कर देने से सारा बल ही नष्ट हो जाता है। जिस समय किसी व्यक्ति के हृदय में, भावों में भयंकर आँधी उठती है उस समय वह अपने सामने उसकी व्यंजना का परिमित अवकाश पाकर झटपट एक उन्माद के रूप में—उस भावना-संसार का जितना अंश बाह्य जगत् में लाते बनता है, रख देता है। जैसे—

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

'मैं कहता हूँ शासन के सूत्रधारों से—और उनके एक-एक मंगलमय विचार से, मैं कहता हूँ देश के सुंदर खिलौनों से—और उनकी शैशव-मति-सुकुमार से, मेरा कहना सुनो—मुझे कहने दो।

"मैं कहता हूँ समाज के शिवालयों, बाल-संस्थाओं के देवताओं की 'ड्यूटी' पर नियुक्त 'कमज़ोर' मनुष्यों से, मैं कहता हूँ शहर-शहर के गली कूचों में रहनेवाले, डूबकर मछली निगलनेवाले, सत्तर चूहे खाकर दूसरों को हज करने का उपदेश देनेवाले—छुपे रुस्तमों से, मैं कहता हूँ आदर्श का नाम लेकर, प्रथा की दोहाई देकर, सत्य के मुँह पर ढोंग का लिफ़ाफ़ा चढ़ाकर अपने कंठ और स्वर को छिपाकर झिलमिल गंभीरता के कंठ और स्वर से बोलनेवाले महाशयों से; मेरा कहना सुनो, मुझे कहने दो।

"है कोई ऐसा माई का लाल जो हमारे समाज को नीचे से ऊपर तक सजग दृष्टि से देखकर, कलेजे पर हाथ रखकर, सत्य के तेज से मस्तक तानकर, इस पुस्तक के अकिंचन लेखक से यह कहने का दावा करे कि—'तुमने जो कुछ लिखा है ग़लत लिखा है। समाज में ऐसी घृणित, रोमांचकारिणी, काजल-काली तस्वीरें नहीं हैं।' अगर कोई हो तो सोत्साह सामने आवे, मेरे कान उमेठे, और छोटे मुँह पर थप्पड़ मारे, मेरे होश के होश ठिकाने करे। मैं उसके प्रहारों के चरणों के नीचे हृदय-पाँवड़े डालूँगा, मैं उसके अभिशापों को सिर माथे पर धारण करूँगा—सँभाल लूँगा। अपने पथ में कतर-ब्योंत करूँगा। सच कहता हूँ, विश्वास मानिए, 'सौगंद औ गवाह की हाजत नहीं मुझे'।"

उग्रजी की स्वाभाविक लेखन-शैली यही है। इसमें हमें संस्कृत तत्समता की उत्कृष्टता एवं अव्यावहारिक दीर्घ समासांत पदावली के दर्शन न मिलेंगे—उनसे ओत-प्रोत भाव-व्यंजना की जो अस्वाभाविकता होती है वह यहाँ न दिखाई पड़ेगी।

साधारण—नित्य की—बातचीत में जिस भाषा का व्यवहार होता है उसका इतना सुंदर और प्रभावात्मक रूप हो सकता है, उपर्युक्त अवतरण इस बात के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। विषय-प्रतिपादन की इस रोचक शैली में एक व्यक्तित्व मिलता है—वैयक्तिकता ही भाषा-शैली का प्रधान गुण है। एक ही आवेश में कई बातों का उल्लेख करना, एक ही को उलटकर पुनः कहना कितना रोचक एवं आकर्षक होता है। उसमें एक अटूट धारावाहिकता तथा भाव-व्यंजना का उग्र रूप प्राप्त होता है।

देश में जब से अँगरेजी भाषा के अध्ययन का अधिक प्रचार हुआ है, और प्रचार ही क्यों? व्यवहार हुआ है; क्रमशः यह परिपाटी चल पड़ी है—अभ्यास पड़ गया है कि जहाँ चार पढ़े-लिखे सज्जन उपस्थित हो जाते हैं और बातचीत आरंभ होती है वहाँ उस बातचीत के सिलसिले में अनेक शब्द अँगरेजी के आ जाते हैं। यह अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि इसी प्रकार उर्दू का भी व्यवहार बढ़ा था। यह एक व्यापक नियम है कि जब दो भाषा-भाषी आपस में—किसी भी कारण से—मिलते हैं, तो स्वभावतः एक दूसरे की भाषा का क्रमशः बिना किसी उद्देश के व्यवहार करने लगते हैं। प्रथमतः इस विषय में चेष्टा नहीं करनी पड़ती। पर अंततो गत्वा एक ऐसा समय उपस्थित हो जाता है जब एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में अपने आप प्रयुक्त होने लगते हैं। उग्रजी इसी व्यापक नियम के निदर्शन एवं स्वाभाविकता उपस्थित करने के विचार से रचनाओं में—और प्रधानतः उन अवसरों पर जहाँ आजकल के अँगरेजी पढ़े-लिखे विद्यार्थियों

की बातचीत आती है—अँगरेजी के कितने ही शब्दों का व्यवहार करते हैं। 'स्टेज', 'सिनेमा', 'मास्टर', 'स्कूल', 'स्टूडेंट', 'हाल', 'प्रोग्राम' ऐसे नित्य के व्यवहार में आनेवाले शब्दों का व्यवहार करते पाए जाते हैं जो वस्तुतः अँगरेजी पढ़े-लिखों के अतिरिक्त जन-साधारण के व्यवहार-क्षेत्र से बाहर हैं। परंतु पंडित अंबिकादत्त व्यास की 'कक्षपुस्तिका' (Pocket book) का व्यवहार समीचीन नहीं। इससे अच्छा तो उस शब्द का ही प्रयोग है। इसके अतिरिक्त वे अनेक स्थानों पर अँगरेजी पदावली का ही व्यवहार करते हैं। यह भी केवल बातचीत की स्वाभाविकता उपस्थित करने के विचार से ही होता है। जैसे–'I am very sorry,' 'Stand up on the bench,' 'Well done my young player!' 'Beg your pardon,' 'Try your utmost,' 'Don't lose,' 'Yes, come on,' 'Let us go and see what is the matter,' इत्यादि।

इस प्रकार के केवल अँगरेजी शब्दों अथवा पदावली का ही व्यवहार हुआ हो ऐसी बात नहीं। वाक्य-विन्यास में भी वह झलक उपस्थित है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार अँगरेजी में कथन का कुछ अंश कहकर कहनेवाले का उल्लेख होता है और तब पुनः कथन का शेष अंश आरंभ किया जाता है, उसी प्रकार उग्रजी ने भी किया है :—"अरे, यह क्या?" हरनारायण बाबू ने अपने रूमाल से रामू के कपोलों को, हलके हाथ, दो तीन बार स्पर्श करते हुए कहा—"आपकी ठुड्डी पर चूना लग गया था।" 'यही"—मैंने उत्तर दिया—"बटुक-प्रेम की आदत। आप जानते हैं, समाज इन थिएटरवालों को किस दृष्टि से देखता है?" "पहला सवाल" मैंने मुस्कुरा

कर कहा—"मेरा होगा", "चलिए"—मैंने कहा "मैं उनसे मिलकर अपने को भाग्यवान समझूँगा।" इत्यादि। हिंदी के पुराने लेखक लाला श्रीनिवासदास ने अपने "परीक्षा-गुरु" उपन्यास में इस प्रणाली का अनुसरण किया था। इस प्रकार के कथोपकथन की प्रणाली का अनुसरण 'भद्दा' नहीं तो अनावश्यक और अप्रयोजनीय अवश्य है। संभव है इसके पक्षपाती इसको स्वाभाविक कहें, परंतु अभी तक प्रचलित-प्रणाली में कोई ऐसी अव्यावहारिक निर्बलता नहीं दिखाई पड़ती।

बाबू शिवपूजन सहाय की भाँति इन्होंने भी—कहीं-कहीं उनसे अधिक—विरामादि चिह्नों का प्रयोग किया है। वस्तुतः भावावेश की शैली में चिह्नों से बड़ा सहारा मिलता है। इनकी सहायता से भाव-व्यंजना में कुछ अधिक सुगमता आ जाती है। इसी सुगमता के कारण इन्होंने स्थान-स्थान पर वाक्यों में उलट-फेर किया है। इस उलट-फेर में नाटकत्व कम मिलता है। जैसे—"कभी करुणा आती थी—प्यारे की उस अवस्था पर—", "नहीं तो, देखते अभागिनी नर्गिस के इस निराश-सौंदर्य को।" "गई होती अदालत में बात तो लड़ गए होते", "कैसे अच्छे थे वे दिन", "इसी लिये तुमसे कहता हूँ, हँसी न समझो मेरे बात को।" "मत चूमने दो किसी पुरुष को अपने होठों को, मत मलने दो किसी मतवाले को अपने गालों को, मत सटने दो अपनी कोमल छाती को किसी राक्षस के वज्र-हृदय से।" "वह आया है—उनको जीवन देने जो कि प्राणों के रहते मृतक बने हैं।" इत्यादि। परंतु यह बात कहीं-कहीं बहुत अस्वाभाविक ज्ञात होती है। बहुत

अधिक उलट-फेर भी सर्वत्र अच्छा नहीं होता। जैसे—"तुम ले जाने को थे, रामायण की एक अच्छी कापी", अथवा "मत बनाओ, अभी से इंद्रियों के दास बनकर, अपने को देवता से राक्षस।" इन वाक्यों में वस्तुतः इतना उलट-फेर हुआ है कि व्यावहारिकता कोसों दूर भागी है। बोलचाल अथवा कथोपकथन में इतना उलट-फेर स्वाभाविक नहीं हो सकता। परंतु लिखने के आवेश में यदि लेखक कहीं ऐसा लिख जाय तो साधारण बात होगी, ऐसा नहीं माना जा सकता।

इनमें भी, अन्य लेखकों की भाँति, आलंकारिकता, स्थान-स्थान पर मिलती है। परंतु इनकी आलंकारिकता में भी व्यावहारिकता रहती है। इनके उपमान स्वाभाविक होते हैं। उनका अनुमान हम सरलता से कर सकते हैं। इसके लिये काल्पनिक उन्माद अथवा अनुभूति की आवश्यकता नहीं पड़ती जैसा कि बाबू जयशंकर प्रसाद एवं राय कृष्णदास में आवश्यक था। जैसे—"आखिर लड़कों ने बछड़ों की तरह सिर से भीड़ चीरकर अपने लिये रास्ता बना लिया।" "वह प्रभात की तरह सुंदर और रुपए की तरह आकर्षक था।" "हम लोग सौत के लड़के की तरह मुँह ताकते ही रह गए।" "हरादिया इस समय वसंत ऋतु की पुष्पमयी वाटिका की भाँति सुंदरी है और शरद-पुष्करिणी की तरह कूल-काम-तरंगमयी है।" "मेरी अनेक दुर्बलताओं के साथ, 'ज्ञानमंडल' प्रेस की दुर्बलताएँ ऐसी मिल गई हैं जैसे फ्रांस के साथ ब्रिटेन।" "वह सोने की ढेर की तरह तेजोमयी और हीरे की तरह 'चमचमा' रही थी।" "दूध पानी की तरह मिल पड़े थे।" "मालूम पड़ने लगा (मानो), खालिस गुलाब की पंखड़ियों की

पुतली मेरी साइकिल का हैंडिल पकड़े खड़ी है।" "सीरी चुप रही, बेत की तरह, पीपल के पत्ते की तरह, काँपती रही।" इत्यादि में जितने उपमान आए हैं सभी का दर्शन हमें नित्यप्रति होता रहता है। उनकी अनुभूति के लिये हमें अपने मस्तिष्क को, गूढ़ मनन के लिये, कष्ट नहीं देना पड़ता। परंतु उपमानों में नवीनता अवश्य है। साथ मिलने के लिये फ्रांस और ब्रिटेन का उपमान कितना नवीन और विचित्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उग्रजी की भाषा-शैली प्रत्येक भाँति स्वाभाविक एवं व्यावहारिक है। लेखक को जिस संसार में अपना संदेश पहुँचाना है वह वस्तुतः इसी प्रकार की भाषा का ग्राहक और प्रेमी है।

आवश्यक स्थानों पर, एक साधारण बात को, लेखक जब बल-विशेष देना चाहता है तो उसी जोड़ तोड़ की कई भावनाओं को, उसी प्रकार के नपे-तुले छोटे-छोटे वाक्यों में लिख कर, उसमें एक चमत्कार उत्पन्न कर देता है। उस चमत्कार के साथ-साथ कथन-प्रणाली में अच्छी शक्ति आ जाती है। इस कथन में भाव-व्यंजना की विशदता पाई जाती है। ऐसे स्थानों पर लेखक चाहे तो छोटे से वाक्य में ही समस्त भाव को कसकर रख दे, परंतु ऐसा अभिप्रेत नहीं। वह संपूर्ण चित्रण चाहता है। "न रोता था और न हँसता ही था न काँपता था और न हिलता ही था।" "उसकी आँखें, लाल थीं, कपोल पीले, और ओंठ सुफ़ेद, बिखरे बालों और अस्तव्यस्त वस्त्रोंवाली वह अभागिनी शून्य सी खड़ी थी।" "चारों ओर डंडा-शाही, ईंटा-शाही, छुरा-शाही, तलवार-शाही, औरंग-शाही और नादिर-शाही का बोलबाला था। धूर्त

नौकर-शाही, अपवित्र नौकर-शाही और इन सब खुराफातों की जड़ नौकर-शाही इस समय घूँघट में मुँह छिपाए है।" "उनकी आँखों में मादकता थी, स्वर में करुणा थी और उनके मुख पर के भावों में था मदांध-पूर्ण-प्रेम!" "खाने न दें।" "तुम पुरुष हो—तुम देवता हो—तुम ईश्वर हो—तुम इन पापियों से हमेशा दूर रहो। हे सुकुमार, हे प्यारे, हे कुलों के प्रकाश और घरों के दीपक! सावधान!", "नहीं तो मुख पर कालिख पुत जाने पर, इन सुंदर ओठों की लाली सूख जाने पर, इन आँखों का पानी मर जाने पर, संसार में तुम्हें घृणा ही घृणा का सामना करना पड़ेगा।" इत्यादि।

इस प्रकार की कथन-प्रणाली में अंशत: भाव-व्यंजना की प्रगल्भता और अंशत: भावावेश का प्राबल्य पाया जाता है। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर कथन-शैली का नाटकीय आवेश बड़ा ही मनोरम और प्रभावात्मक मिलता है। उसमें से व्यंजनात्मक विशदता कहीं जा नहीं सकती। वरन् वह शक्तिशाली की स्वाभाविकता है। जैसे—"वह आया है—उन अंधों को आँख देने जो कि देखते हुए भी कुछ नहीं देखते। उन वधिरों को कान देने जो कि सब कुछ सुनते हुए भी कुछ नहीं सुनते हैं। उन पंगुओं को पैर और लूलों को हाथ देने जो कि इनके रहते हुए भी अकर्मण्य बने हैं।" "देशभर को सत्याग्रह के लिये तैयार करो। सब के कानों तक अहिंसा का संदेश पहुँचा दो। अत्याचारी हो या पीड़ित, राजा हो या प्रजा, पिता हो या पुत्र, पति हो या पत्नी—सब से कह दो कि कोई अपनी आत्मा का अपमान न करे।" "उसने कहा है कि तुम्हीं ने उसे वह पापकर्म सिखाया

है। तुम्हीं उसके साथ वैसा नारकीय व्यवहार करते हो।" इत्यादि।

थोड़े में यही कहा जा सकता है कि पांडेय बेचन शर्मा की भाषा-शैली में नवीन युग का उत्कर्ष है, आंदोलनात्मक उत्साह है, कथन का उच्छृंखल सौंदर्य है, और भावावेश की उग्रता है। दार्शनिक और सूक्ष्म गवेषणा का शान्त विवेचन इस प्रकार की भाषा में भले ही न हो सके परंतु भावों के वेग का स्वाभाविक चित्र इसमें अवश्य उपस्थित किया जा सकता है। शांत तथा गंभीर, विषयों का निदर्शन इसमें सफलता-पूर्वक न हो सके ऐसा स्वाभाविक है, परंतु वाद और विवाद, कथन और प्रतिपादन, आंदोलन और प्रचार के वातावरण के अनुकूल यह अवश्य है। यह जिस वायु-मंडल में उत्पन्न हुई है उसकी प्रतिष्ठा वहीं हो सकती है। इस भाषा की व्यावहारिकता ने शैली को एक कांति दी है। विषयानुकूल भाषा को रखना पांडेयजी ने भली भाँति सीखा है। साथ ही पात्र के अनुकूल भाषा का होना स्वाभाविक है, इसका भी उन्होंने निर्वाह किया है। जैसे—"इस मुल्क की आँखों पर आप का 'रिमार्क' एक ही रहा। अपनी 'औरत' की गुस्ताख़ी माफ़ कीजिएगा, क्या मर्दों के हाथ में औरतों के दिलो-दिमाग़ का, दीनो-दुनिया का, बहिश्तो-दोज़ख़ का ठेका है? मर्द जिसे कहे औरत उसी को प्यार करे। उसी के गले पड़े। उसी को अपना बनाए। औरतें गंदी हैं, औरतें बेवक़ूफ़ हैं, औरतें गुलाम हैं, औरतें बदतहज़ीब हैं और बेतमीज़ हैं—यानी दुनियाँ में सब से अगर ख़राब हैं तो औरतें हैं। फिर; बंदा परवर! आप मर्द लोग, जो

अपनी सफ़ाई, अक़्लमंदी, बहादुरी और तहज़ीब के लिये मशहूर हैं, औरतों को नेस्तोनाबूद क्यों नहीं कर देते ? यही कीजिए और ज़रूर कीजिए, बड़ा सवाब होगा। दुनियाँ (अमेरिका, जापान, इँग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, चीन, तुर्की) औरतों को आज़ादी दे रही है। हुज़ूर के मुल्क के मर्दों को चाहिए कि दुनियाँ के ख़िलाफ़ बग़ावत करें। औरतों को जेल में रखें। खाने न दें, सुनने न दें, प्यार करने न दें। और पढ़ने लिखने तो ज़रूर न दें। अगर आपके मुल्क को 'बाग़े-अदन' और मर्दों को ख़ुदा कहा जाय तो बुरा न होगा। आप लोग हम औरतों को समझा दीजिए कि इल्म ही वह 'फारबिडेन ट्री' है जिसका फल खाने की आज्ञा नहीं। औरत भी 'आदम' और 'ईव' की तरह, इल्म के पेड़ के फल खाकर चौकन्ना हो जायँगी, होश में आ जायँगी। इसलिये जो औरत आप (ख़ुदाओं) की बात न माने, उसे अपने 'सोशल-पैराडाइज़' (सामाजिक स्वर्ग) से निकाल बाहर कीजिए। मगर, याद रहे; उनमें पहला नंबर अपनी असग़री का ही रखिएगा।''

इस अवतरण में उर्दू शब्दावली तो अवश्य है; पर उर्दू शैली की छाप वाक्य-विन्यास में नहीं दिखाई पड़ती। वाक्यों का क्रम भी इधर-उधर नहीं हुआ है। आत्म-निवेदन ही में नहीं वरन् विचार-पद्धति में भी भारतीय-संस्कृति झलकती है। लेखक ने एक मुसलमान महिला की स्वाभाविक भाषा लिखने का प्रयत्न किया है। परंतु "आज्ञा" और "फल" ऐसे शब्दों का व्यवहार नहीं बचा सका अथवा बचाया नहीं गया। इस देश-विशेषी भाषा के झगड़े से जब लेखक अलग दिखाई

पड़ता है तब उसकी भाषा में ही नहीं परिवर्तन हो जाता प्रत्युत भाव-व्यंजनात्मक प्रणाली में, और भाषा की साधारण वेश-भूषा में भी अंतर उपस्थित हो जाता है। जहाँ 'ईसा', 'हेरोद' और 'शांति' (विवेकानंद की पुत्री) सभी एक भाषा का अनुसरण करते पाए जाते हैं वहाँ भाषा में परिष्कार और कांति पाई जाती है। क्योंकि संगठन में और शब्द-योजना में काव्योचित उत्कृष्टता प्राप्त होती है। इन स्थानों में भाव-निदर्शन में अलंकारिकता विशेष मिलती है। व्यंजनात्मक गंभीरता के साथ-साथ भाषा में भी स्थिरता आ गई है। जैसे—

"शांति तुमने मुझे देखकर अपना गाना क्यों बंद कर दिया। देखती हो तुम्हारे पाले हुए मृग-शावक मेरी ओर कैसी क्रोध-पूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। मानो मैंने उनका कोई सुख छीन लिया है। आम-वृक्ष पर बैठी हुई मौन कोकिला मुझे देखते ही बोल उठी—मानो कहती है कि इस समय चले जाओ। मेरे आनंद के बाधक न बनो। मयूर—जो अभी तक तुम्हारे गान पर मुग्ध होकर नाच रहे थे—अब अपने सहस्र नील-चंद्रांकित पक्ष को समेट कर उदास खड़े हैं।"

"आज से दस वर्ष पहले की घटना मुझे ज्यों की त्यों याद है शांति! तब तुम्हारी अवस्था केवल पाँच वर्षों की थी। एक दिन राजगृही वाले उद्यान में कदंब-वृक्ष के नीचे एक युवक बैठकर माला गूँथकर तुम्हें प्रसन्न कर रहा था। उस समय आकाश में पूर्ण-चंद्र तुम्हारी बाल-सुलभ चपलता को देख-देखकर हँस रहा था। और निशा सुंदरी निस्तब्ध होकर तुम्हारी और उस युवक की बातें सुन रही थी। कुछ याद आती है।"

"हेरोदिया इस समय वसंत-ऋतु की पुष्प-मयी वाटिका की तरह सुंदरी है और शरद-पुष्करिणी की तरह कूल-काम-तरंगमयी है। ऐसे

अवसर को हाथ से जाने देना नितांत मूर्खता है। ओह! उसके रूप की मादकता देखकर मदिरा का रंग उड़ जाता है। उसके ओठों की लालिमा देखकर प्रभात का सूर्य उषा को भूल जाता है और भरसक शीघ्रता करके हिरोदिया के भवन-शिखर पर उसके दर्शनार्थ पहुँचता है। ऐसी सुंदरी का केवल लोकोपवाद के भय से त्याग करना कदापि उचित नहीं। मैं इस समय यहूदिया का सम्राट हूँ, कर्ता, धर्ता और तर्ता हूँ। हमारा कोई क्या बिगाड़ लेगा? हँ, हँ,—मूर्ख कहते हैं कि छोटे भाई की स्त्री पर दृष्टि डालना पाप है। राजा के लिये कोई कर्म भी पाप नहीं कहा जा सकता। वही पाप और पुण्य का नियंता है। जिस तरह से सृष्टि की सब वस्तुओं का सम्राट बनाया है—उसी प्रकार मनुष्यों का सम्राट भी अपनी प्रजा के साथ स्वेच्छाचार कर सकता है।"

उपसंहार

भाषा भाव की अनुरूपिणी होती है। जिस प्रकार का वर्ण्य-विषय होता है उसी प्रकार की भाषा भी आवश्यक होती है। वस्तुतः भाव और भाषा का साम्य न होने से पाठक के हृदय में उस विचार-परंपरा का अनुभव उतनी स्पष्टता और स्वाभाविकता से नहीं होता जिसका दिग्दर्शन अभिप्रेत होता है। अतएव भाषा का भाव के उन्मेष के अनुरूप होना अत्यंत आवश्यक है। यही कारण है कि यदि हम भाषा के क्रमागत विकास का अध्ययन करना चाहते हैं तो विचार-परंपरा का अध्ययन आवश्यक होता है। जिस काल में विचार-पद्धति का जितना विकास हुआ रहता है भाषा भी उतनी ही सबल होती है। जिस प्रकार क्रमशः भाव-शैली उन्नत और परिष्कृत होती जाती है, उसमें बल का संचार होने लगता है और उसका

विस्तार व्यापक होने लगता है, उसी प्रकार भाषा में भी सजीवता तथा प्रौढ़ता आने लगती है और वह अनेक प्रकार के भाव-द्योतन में समर्थ होती जाती है। यही कारण है कि किसी भी साहित्य के आरंभिक काल में भाषा का रूप संकुचित तथा निर्बल रहता है। उसमें न तो एकरूपता ही रहती और न अनेक प्रकार के भाव-प्रकाशन की सामर्थ्य ही। इनका धीरे धीरे विकास होता है।

इसी स्वाभाविक नियम का दर्शन हम हिंदी गद्य की आरंभिक अवस्था में पाते हैं। हिंदी गद्य का प्रारंभिक काल निर्विवाद रूप से उसी समय से माना जाता है जिस समय मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्लाखाँ, सदल मिश्र और लल्लूजी लाल की रचनाएँ प्रकाश में आईं। इसके पूर्व गद्य का इतिहास श्रृंखलाबद्ध और धारावाहिक रूप में नहीं मिलता। इन लोगों ने इस समय जो रचनाएँ उपस्थित कीं उनमें से कुछ तो केवल संस्कृत से अनुवाद मात्र थीं और कुछ स्वतंत्र। जिन लोगों ने अनुवाद किया उनको आधार स्वरूप भाव और भाषा दोनों की सहायता प्राप्त हुई। यही कारण है कि उनकी कृतियों में संस्कृत की अधिक भावभंगी दिखाई पड़ती है। यह सांस्कृतिक प्रभाव शब्दों तक ही परिमित न रह सका परंतु भाव-द्योतन की प्रणाली तक में पाया जाता है जिसे हम एक शब्द में शैली कहते हैं। अभी हिंदी साहित्य में केवल पद्य-रचना ही होती रही; लोगों के कान तुकांत पदावली में मँजे थे। यही कारण है कि लल्लूजी लाल और सदल मिश्र की रचनाओं में तुकांत-रचना की अधिकता मिलती है। इन लोगों की कृतियों में इधर उधर प्रांतिकता

भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। साधारणतः इस समय की अधिकांश रचनाओं में शब्दयोजना असंयत एवं वाक्य-रचना अव्यवस्थित और भाव-प्रकाशन निर्बलतापूर्ण था। मुंशी सदासुखलाल की भाषा में कुछ गंभीरता और परिष्कृत रूप अवश्य था। परंतु पंडिताऊपन भाषा का गला दबाता अवश्य दिखाई पड़ता था।

इन लोगों से कुछ भिन्न रचना-शैली इंशा अल्लाखाँ की अवश्य थी। उनकी रचना का उद्देश्य स्वांतःसुखाय था; यही कारण है कि उनकी भाषा का प्रवाह भी स्वच्छंद और अधिक चमत्कारपूर्ण था। पूर्व वर्णित लेखकों की वस्तु धर्म-प्रधान होने के कारण भाव-व्यंजना भी अपेक्षाकृत गंभीर हुई है। परंतु खाँ साहब की वस्तु काल्पनिक होने के कारण उनकी भावद्योतन की प्रणाली भी नवीन और स्वतंत्र थी। उद्भावनाशक्ति के विचार से खाँ साहब सबों में श्रेष्ठ थे। उनकी वस्तु में नवीनता थी, भावभंगी और शैली में चमत्कार था। इतना होने पर भी भारतीय संस्कृति की झलक उनमें कुछ कम पाई जाती है। शब्द-योजना में ही उर्दूपन नहीं मिलता वरन् वाक्य-विन्यास में भी उर्दू छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यदि इस काल की सभी रचनाओं को एकत्र रखकर विचार किया जाय तो यही कहा जायगा कि भाषा और व्याकरण दोनों का निर्वाह संयत रूप में नहीं हुआ था—न तो भाषा का ही रूप स्थिर हुआ था और न व्याकरण के नियमों का ही पालन दिखाई पड़ता था। यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। उस समय कुछ लिखना और पठन-पाठन को व्यापक बनाना ही ध्येय था। विषय

भी इसी लिये केवल साधारण कथा कहानी का ही लिखा गया। इसमें रुचि का आकर्षण ही प्रधान वस्तु थी। दूसरी बात जो इस समय ध्यान देने योग्य थी और जिसका संबंध सीधे सीधे शैली से है वह थी भाषा में शुद्धता-वाद के झगड़े का आरंभ। इस झगड़े के प्रधान नायक इंशा अल्ला खाँ और लल्लूजी लाल थे। इसमें लल्लूजी लाल की रचना—प्रेम-सागर—को देखने से स्पष्ट बोध होता है कि उर्दू वाक्य-रचना और शब्द-योजना से बचने का प्रयत्न लेखक ने सचेष्ट होकर किया है। दूसरी ओर खाँ साहब की रचना में उर्दू-पन शब्द-योजना तक ही न रहकर वाक्य-रचना एवं भाव-भंगी तक में घुसा हुआ था। इस भाँति सचेष्ट रूप से दो भिन्न भिन्न प्रकार की शैलियों का शिलान्यास प्रारंभिक काल ही में हुआ। इसका क्रमशः विकास होता रहा।

इसके उपरांत यदि हम ईसाइयों के द्वारा की गई हिंदी की सेवा का उल्लेख न करने का निश्चय कर लें तो शैली का क्रमिक विकास दिखाना असंबद्ध सा ज्ञात होगा, क्योंकि तीन लेखकों के इस दल के उपरांत पचास वर्षों के अनंतर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह का काल आता है। यदि इन धर्मप्रचारक ईसाइयों की रचनाओं का विचार न हो तो इस पचास वर्षों को इतिहास में शून्य स्थान प्राप्त होगा। अत-एव इन रचनाओं का उल्लेख होना आवश्यक है। यह केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही उचित नहीं है वरन् शैली के विचार से भी इस काल की कुछ विशेषताएं हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है। इन ईसाइयों की रचनाओं में उर्दूपन का पूर्ण बहिष्कार दिखाई पड़ता है। यदि हिंदी का प्रचलित शब्द उन्हें नहीं

मिलता था तो किसी भी प्रकार वे उर्दू के शब्दों का व्यवहार नहीं करते थे वरन् हिंदी का ही अप्रचलित अथवा ग्रामीण शब्द लेना उन्हें उतना नहीं खटकता था। 'समय' के स्थान पर उन्हें 'वक्त' कभी न सूझा। 'समय' के स्थान पर 'बेला' अथवा 'जून' तक का व्यवहार दिखाई पड़ता है। वाक्य-विन्यास में भी उर्दू की उस छाया का दर्शन नहीं होता जिसका इंशा अल्लाखाँ की रचनाओं में होता है। इसके अतिरिक्त हिंदी का प्रचार भी इन लोगों ने अधिक किया। जिस ओर पीछे से राजा शिवप्रसाद ने पूर्ण रूप से कार्य किया उस ओर पूर्व ही इन लोगों ने कार्य आरंभ किया था। अपनी पाठशालाओं में पढ़ाने के लिये अनेक प्रचलित विषयों की पुस्तकों का इन्होंने निर्माण कराया जिससे भाषा का प्रचार बढ़ा। इन बातों का संबंध केवल इतिहास से ही नहीं है वरन् शैली विकास से भी है। इस प्रकार प्रचार होने से और अनेक विषयों में उपयुक्त होने के कारण भाषा में व्यापकत्व आने लगा, उसकी प्रौढ़ता विकसित होने लगी और उसकी व्यावहारिकता बढ़ने लगी। भाषा का सीधा साधा सरल रूप खड़ा होने लगा। इन विशेषताओं का रूप हमें इनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

पाठशालाओं के पाठ्यक्रम के अनुकूल पुस्तकों के प्रणयन का जो संबंध ईसाई लेखकों द्वारा प्रारंभ हुआ वह राजा शिवप्रसादजी द्वारा दृढ़ हुआ। साहित्यिक क्षेत्र में इस समय प्रधानत: दो राजाओं ने कार्य किया; एक राजा शिवप्रसादजी और दूसरे राजा लक्ष्मणसिंह जी ने। इन लेखकों के काल में वस्तुत: एक ही विषय ध्यान देने योग्य है। भाषा-शुद्धता का

जो युद्ध वास्तव में लल्लूजी लाल और इंशा अल्लाखाँ के समय में आरंभ हुआ था वह इस समय स्पष्ट और दृढ़ हो गया। राजा शिवप्रसादजी की रचना-शैली उर्दू और हिंदी का मिश्रण थी। उसमें उर्दू की छाप शब्द तक ही नहीं वरन् वाक्य-विन्यास तक दिखाई पड़ती है। इनके ठीक विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह की रचना-शैली थी। इन्होंने उर्दू शब्दों का ही नहीं वरन वाक्य-विन्यास तक का बहिष्कार किया। यह शुद्धतावादी युद्ध आज तक चल रहा है जो बाबू हरिश्चंद्र के समय को पार करता हुआ वर्तमान काल तक में पहुँच चुका है।

इसके उपरांत भारतेंदु का काल आया। इनके समय में अनेक प्रतिभाशाली लेखक हुए। अनेक विषयों पर ग्रंथ लिखे गए। उपन्यास, इतिहास, लेख, समालोचना के अतिरिक्त पाठशालाओं के पाठ्य-क्रम से संबंध रखनेवाले अन्यान्य विषयों पर सुंदर पुस्तकें लिखी गईं। रचना-शैली का क्रमशः विकास हुआ। शब्दों में प्रौढ़ता वाक्य-विन्यास में स्पष्टता और संगठन बढ़ने लगा। इस काल में भाषा और भावभंगी दोनों में साहित्यिकता का सिक्का जमने लगा था। भाव-प्रदर्शन में भी बल आ गया था। इतना बल आ गया था कि लेखकों को साहित्यिक विशिष्टताएँ एवं गद्यात्मक उत्कर्ष दिखाने की इच्छा होती थी। इतना होते हुए भी भाषा व्याकरण की ओर लोगों की दृष्टि नहीं फिरी थी। इस समय की कितनी ही रचनाओं में व्याकरण संबंधी त्रुटियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। विरामादिक चिह्नों का भी प्रयोग उचित रूप में नहीं हुआ है। इससे स्थान स्थान पर भाषा की बोधगम्यता नष्ट हो गई है। एक शब्द में यदि हम कहना

चाहें तो कह सकते हैं कि इस समय तक रचना-शैली में व्यापकता एवं परिमार्जन नहीं उपस्थित हो सका था।

जो न्यूनताएँ हरिश्चंद्र-काल में रह गई थीं उनकी पूर्ति वर्तमान काल में हुई। व्याकरणगत न्यूनताओं के विषय में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा पंडित गोविंदनारायण मिश्र प्रभृति सतर्क लेखक विशेष तत्पर रहे। भाषागत परिमार्जन के अतिरिक्त वर्तमान काल की प्रधान विशेषता है भाषा का व्यापक विस्तार एवं भाव-प्रदर्शन की प्रौढ़ शैलियों का स्वतंत्र स्वरूप। इस वर्तमान काल में अनेक लेखक कुशलतापूर्वक अनेक विषयों पर लिख रहे हैं। हर एक विषय की स्वतंत्र शैली दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त इन स्वतंत्र शैलियों में लेखकों के व्यक्तित्व के अनुसार वैयक्तिकताएँ विशेष दिखाई पड़ती हैं। ये विशेषताएँ भाषा की प्रौढ़ता और परिमार्जन की परिचायक हैं।

आज भाषा का जो दिव्य और परिमार्जित रूप दिखाई पड़ता है उसमें कुछ ऐसी खटकनेवाली बातें प्राप्त होती हैं जो थोड़े ही प्रयास से सुधर सकती हैं और इस प्रयास की अत्यंत आवश्यकता है। पहली न्यूनता तो यह है कि शब्दों का स्वरूप ही स्थिर नहीं है। एक ही शब्द कई रूप से प्रयुक्त होता है। कोई लेखक 'बेर' लिखता है तो दूसरा उसको 'बार' लिखता है; कोई 'उद्देश्य' का प्रयोग करता है और कोई 'उद्देश' ही लिखना उचित समझता है; कोई 'धर्म्म' लिखता है कोई 'धर्म' ही ठीक मानता है। इसके अतिरिक्त क्रियाओं का रूप भी चिंतनीय है। एक 'देखना' के कई रूप प्रयुक्त होते दिखाई पड़ते हैं। 'दीख', 'दिखाई', 'दिखलाई',

'देखाई' सब एक ही क्रिया के रूप हैं। इन सभी रूपों का प्रयोग आजकल मिलता है। इस प्रकार के भिन्न भिन्न प्रयोग उस समय और भयंकर ज्ञात होते हैं जब एक ही लेखक दो रूपों का व्यवहार करता है। शब्दों के निश्चयात्मक स्वरूपों का स्थिर होना अत्यंत आवश्यक है। इस निर्बलता के कारण भाषा की स्थिरता में संदेह होने लगता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई विदेशी इस भाषा का अध्ययन आरंभ करता है तो उसे विशेष असुविधा का सामना करना पड़ता है।

इधर जब से भाषा की व्यापकता और विस्तार बढ़ता गया है, उसमें अन्य भाषाओं की भावभंगी एवं वाक्य-विन्यास का समावेश होता गया है। प्रथमत: उर्दू के संयोग के कारण उर्दू शब्दों और वाक्य-विन्यास का प्रभाव हमने स्पष्ट देख लिया है। इसके उपरांत हरिश्चंद्र काल ही में अँगरेजी और बँगला भाषाओं का प्रभाव हिंदी में दिखाई पड़ने लगा था। वर्तमान समय में यह निश्चित करना कि किस भाषा का कितना अंश हिंदी भाषा में मिल गया है बड़े ही विस्तार का विषय है। इसके लिये एक स्वतंत्र पुस्तक की आवश्यकता दिखाई पड़ती है। कहने का सारांश यह है कि एक भाषा पर अन्य भाषाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। परंतु विचारणीय प्रश्न यह है कि अपनी भाषा में पाचन-शक्ति का विकास करते करते कहीं हम उसकी उद्भावना-शक्ति का ह्रास न करने लगें। वर्तमान लेखकों को इस विषय में सदैव सतर्क रहना चाहिए।

---

(१०) आलोचना

(१) बाबू श्यामलालकृत "बालकांड का नया जन्म"

मैंने बाबू श्यामलाल के "बालकांड का नया जन्म" नामक ग्रंथ का ध्यानपूर्वक अवलोकन किया। इसकी भूमिका बड़े महत्त्व की है। बाबू श्यामलाल की तर्क-शैली और विवेचन-पद्धति के आगे सिर झुकाना पड़ता है और जो कुछ उन्होंने लिखा है तथा जिस प्रकार रामचरितमानस के बाल-कांड को क्षेपक-रहित करके अपने संस्करण की प्रामाणिकता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है उसकी प्रशंसा किए बिना मैं नहीं रह सकता। यह सब होते हुए भी बालकांड की जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ अब तक उपलब्ध हुई हैं और उनमें से एक गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवनकाल की लिखी हुई है तथा उनके द्वारा संशोधित बताई जाती है, उनमें वे सब अंश वर्तमान हैं जिन्हें बाबू श्यामलाल ने क्षेपक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस अवस्था में जब तक कोई और प्राचीनतर हस्तलिखित प्रति न प्राप्त हो जाय और उसमें क्षेपक कहे गए अंश न मिलें तब तक बाबू श्यामलाल के तर्क से प्रमाणित क्षेपक अंश को गो० तुलसीदास कृत न मानना बहुत बड़े साहस का काम होगा। एक ग्रंथ की रचना में त्रुटियाँ दिखाकर उनका पूर्वापर सामंजस्य या असामंजस्य सिद्ध करना एक बात है और उन्हें कविकृत न मानना दूसरी बात है। अयोध्या कांड की राजापुरवाली प्रति गो० तुलसी-

दासजी के हाथ की लिखी कही जाती है। जब बाबू श्यामलाल का "अयोध्या कांड का नया जन्म" प्रकाशित होगा तब इस संबंध में कुछ अधिक कहा जा सकेगा। अभी तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यदि बाबू श्यामलालजी तीन सौ वर्ष पहले होते और गो० तुलसीदासजी ने अपने रामचरित-मानस के संबंध में उनसे "इसलाह" ली होती तो संभवतः उनकी यह कृति कुछ और ही होती।

अंत में मुझे इतना ही कहना है कि यद्यपि हम बाबू श्यामलाल की तर्क-शैली और विवेचन-पद्धति तथा उनके इस उद्योग की जी खोलकर प्रशंसा करते हैं तथापि हम अभी यह मानने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं कि जिन पंक्तियों को उन्होंने क्षेपक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वे वास्तव में तुलसीदास-कृत नहीं हैं, उन्हें पीछे से किसी ने जोड़ दिया है।

श्यामसुंदरदास

---

(४) बाबू श्यामसुंदरदासकृत "हिंदी भाषा और साहित्य" पर एक दृष्टि

यह पांच सौ पृष्ठों का एक खासा मोटा ग्रंथ है जो इंडियन प्रेस इलाहाबाद से अभी छपकर निकला है। लेखक इसे हिंदी भाषा और साहित्य का एक छोटा सा इतिहास कहते हैं। निस्संदेह इस शैली के कोई कोई ग्रंथ इससे तिगुने मोटे हैं, परंतु यदि उनमें से विनोदार्थ उद्धृत उदाहरण निकाल दिए जायँ तो सारगर्भित स्थूलता में कदाचित् यह बाजी मार ले जाय।

इस ग्रंथ के दो विभाग हैं; अर्थात् पहला हिंदी भाषा का

इतिहास और दूसरा हिंदी साहित्य का इतिहास। पहला भाग एक बार अलग पुस्तक रूप में तथा भाषाविज्ञान नामक पुस्तक के एक अध्याय के रूप में भी प्रकाशित हो चुका है और उस पर समालोचनाएँ भी लिखी जा चुकी हैं। इस समय वह पूर्ण रूप से संशोधित कर दिया गया है।

इसमें वैदिक काल से आरंभ कर भारतीय भाषाएँ क्या रूप धारण करती गई और अंत में हिंदी की खड़ी बोली किस तरह खड़ी हुई इसका दिग्दर्शन बड़ी मनोहरता के साथ किया गया है। इस विषय के व्यक्त करने में शुष्क व्याकरण का संग छुड़ाया नहीं जा सकता, परंतु उसकी रुखाई में ऐसी चिकनाई लगा दी गई है कि पढ़ने से जी नहीं ऊबता।

प्राचीन और आधुनिक भाषाओं का यथावश्यक वर्णन करके ग्रंथकर्त्ता ने लिखा है—"पहले मूल भाषा से वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई और फिर उसने कट छँट या सुधरकर साहित्यिक रूप धारण किया; परंतु साथ ही वह बोलचाल की भाषा बनी रही। प्राचीन बोलचाल की भाषा को कुछ विद्वानों ने 'पहली प्राकृत' नाम दिया है, हमने उसका उल्लेख मूल भाषा के नाम से किया है। आगे चलकर यह पहली प्राकृत या मूल भाषा दूसरी प्राकृत के रूप में परिवर्तित हुई जिसकी तीन अवस्थाओं का हमने पहली प्राकृत या पाली, दूसरी प्राकृत शौरसेनी आदि प्राकृतें और अपभ्रंश नामों से उल्लेख किया है। जब इन भिन्न भिन्न अवस्थाओं की प्राकृतें भी वैयाकरणों के अधिकार में आकर साहित्यिक रूप धारण करने लगीं तब अंत में इस मध्य प्राकृत से तीसरी प्राकृत या अपभ्रंश का उदय हुआ। जब इसमें साहित्य की रचना आरंभ हुई

तब बोलचाल की भाषा से आधुनिक देश-भाषाओं का आरंभ हुआ। ये देशभाषाएँ भी अब क्रमशः साहित्य का रूप धारण करती जाती हैं।"

अपने विषय का इस प्रकार प्रतिपादन करते हुए बाबू साहब ने हिंदी का आदि काल सं० १०५० विक्रमी और चंद को हिंदी का प्रथम कवि माना है। साथ ही साथ इस विषय में जो अनेक शंकाएँ उपस्थित की गई हैं उनका भी वे यथोचित निवारण करते गए हैं; परंतु एक बात अब भी स्पष्ट नहीं हुई। वह यह है कि मूल भाषा अर्थात् पाली के उठ जाने पर कहीं कहीं जो देशभाषा का उल्लेख मिलता है और जिसकी प्राकृत भाषा से विभिन्नता बतलाई जाती है वह कौन भाषा थी और अंत में उसका क्या हुआ। हर्षचरित्र में लिखा है कि बाण जब भ्रमण करने को निकला तो उसके साथ एक भाषा कवि और एक प्राकृत कवि था। यह ईसवी सातवीं सदी की बात है। इसके पूर्व पाँचवीं सदी के लगभग गुप्त नरेशों के समय में भी देशभाषा के अस्तित्व का पता लगता है। नारद स्मृति में लिखा है कि गुरु को चाहिए कि अपने शिष्य को संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा द्वारा बोध करावे। यह देशभाषा कोई द्राविड़ी भाषा थी जो इस देश के मूल निवासियों की बोली थी, या आर्य भाषा से निकली हुई जनसमूह के बोलचाल की भाषा थी? विद्यामहोदधि श्रीमान् काशीप्रसाद जायसवाल ने सतर्क बतलाया है कि नारद के समय में प्राकृत पंडिताऊ भाषा हो गई थी और बोलचाल की भाषा न रह गई थी। बोलचाल की भाषा देशभाषा कहलाती थी और यही पुरानी हिंदी थी। जब इसका तारतम्य

सातवीं सदी तक पाया जाता है तब इसकी खोज लगाना और यथोचित विवेचन करना आवश्यक जान पड़ता है।

ग्रंथ के दूसरे भाग में हिंदी साहित्य का इतिहास एक नूतन विधि से लिखा गया है जिसमें भिन्न भिन्न परिस्थितियों का वर्णन करके हिंदी भाषा पर उनका प्रभाव दिखलाया गया है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्थाओं का दिग्दर्शन कराके देशी विदेशी ललित कलाओं का परिचय इस प्रकार दिया गया है जिससे स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाय कि वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीतकला ने हिंदी के साहित्य पर किस प्रकार अपना प्रभाव अंकित किया। यह एकदम नवीन सूझ है जिस पर हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों का ध्यान अभी तक आकृष्ट नहीं हुआ था।

बाबू श्यामसुंदरदास ने हिंदी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया है यथा—

आदि युग (वीर गाथा का युग—संवत् १०५० से १४०० तक),

पूर्व मध्य युग (भक्ति का युग—संवत् १४०० से १७०० तक),

उत्तर मध्य युग (रीति-ग्रंथों का युग—सं० १७०० से १६०० तक)

आधुनिक युग (नवीन विकास का युग—सं० १६०० से अब तक)

इस काल विभाग की उपयुक्तता ग्रंथ के पढ़ने से ही प्रतीत होगी। प्रत्येक काल की परिस्थिति का विवेचन अनेक दृष्टि-कोणों से किया गया है। ललित कलाओं का भी इसी प्रकार विभाग कर यह दिखलाया गया है कि विभिन्न कालों की साहि-त्यिक परिस्थिति के साथ ललित कलाओं की परिस्थिति में

कितनी समता है। "सब कलाएँ मानव चित्तवृत्तियों की अभिव्यक्ति हैं। जिस देश में जिस काल में जनता की जैसी चित्तवृत्ति रहती है वैसी ही प्रगति ललित कलाओं की होना स्वाभाविक है।"

ग्रंथकर्त्ता ने हर एक काल के मुख्य कवियों का वर्णन करते हुए उन बातों पर विशेष जोर दिया है जिनसे कोई साहित्यिक मूलतत्त्व सिद्ध होता है। इससे अनर्गल बातें आप से आप छूट गई हैं। इस ग्रंथ की यही विशेषता है। इस पुस्तक में पाठक को एक भी ऐसा नाम न मिलेगा जिसका जिक्र बिना किसी विशेषता के साथ किया गया हो, जैसा कि बहुतेरे ग्रंथों में पाया जाता है और जिनमें ग्रंथकाय बढ़ाने के लिये योग्य अयोग्य का विचार न कर ऐसे व्यक्तियों तक की भरती कर ली गई है जो कदाचित् साहित्य की परिभाषा भी नहीं जानते। बाबू साहब ने किसी के दोष गुण बताने में कोताही नहीं की, चाहे वे किसी भी दर्जे के लेखक या कवि हों। उन्होंने अपने जीवित मित्रों को भी उसी कसौटी पर कसा है। इस पक्षपात-रहित विवेचन के लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक बड़े मार्के की है और समीक्षा की एक प्रकार की नवीन विधि स्थापित करती है। इस पुस्तक में अनेक कवियों के और ललित कला संबंधी प्राचीन चित्र हैं जो सरलता से उपलब्ध नहीं हैं। ये पुस्तक के ओज को बढ़ाते हैं। इंडियन प्रेस की छपाई ने भी अब ललित कला का रूप धारण कर लिया है। इस कनक-तिलक-धारी पुस्तक का बाह्य रूप उसके भीतरी विषय के अनुकूल ही है। इसलिये मूल्य ६) कुछ अधिक नहीं है।

हीरालाल
